श्री जैन तत्त्वसार सारांश.

(हिन्दी भाषांतर)

प्रकाशक.

[illegible]लजाई मोतीलाल.

सेक्रेटरी–श्री हंसविजयजी जैन फ्री लायब्रेरी

वडोदरा.

प्रतयः १००० : : विक्रम संवत् १९९०

द्वितीयावृत्ति.

०–८–०

ॐ

※ स्वर्गस्थ शांतमूर्ति १००८ श्रीमान् हंसविजयजीमहाराज ※

दीक्षा : संवत १९३५ माह वद ११

वडी दीक्षा : संवत १९३६ ज्येष्ठसुदि १०



जन्म : संवत १९१४ अषाढ वदी ०)) (दीवासापर्व)

स्वर्गवास : संवत १९९० फाल्गुण सुदि १०



॥ सकलविपथध्वान्त ध्वंसने ग्रीष्महंसं ॥
॥ सुकविकमलवल्ली मंडने राजहंसं ॥
॥ मदनमदविभंगे मञ्जु मार्तंडहंसं ॥
॥ मुनिवरमभिवन्दे ऽहंसदा साधुहंसं ॥



દીક્ષીત પ્રી. વર્કસ, અમદાવાદ.

॥ ॐ ॥

अर्घ्य.

ॐकार बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायंति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः ॥१॥
क्षोभो न लोभो न च कामकेलि ।
नंदोप पोषो न च रोप लोपो ॥
अमोस्फुटा यस्यभवंति भावा ।
उपास्महे तं परमं पुमांसम् ॥२॥
अज्ञान तिमिरांधानाम् ज्ञानांजनशलाकया ।
नेत्रमुन्मिलितंयेन, तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

उग्रवीहारी मानस–निवासी राजहंस. ?

अ—अनेकने उद्धरवा अर्थ अत्र आपनुं आवागमन थयुं; छतां आपे भगवति श्री सरस्वतिना दिव्य निवास स्थानमांनी आपनी सहजगुणग्राही हंस–प्रकृतिनो आजीवन पर्यंत त्याग कर्यो नहि अने जगतने प्रतिति करावी के हंसवृत्तिवाळाजनो अतत्त्व–नीरने त्यागी तत्त्व-क्षीर अने मानस

पापपंक दूर करि प्रवचन-मौक्तिकज आगेगे छे.
तेवीज रीते आपना मरुशासमां स्हेनाम्ने दीव्य-
सामग्रीनुं आस्वादन करावी कंचन-देही बनाव्या.*
खरेखर ? पारसमणि जेने स्पर्शे, ते कंचनमय
थाय ते तेनो जातीस्वभाव छे.

ति—आपना वीहारमां पान्थजनोनां परिताप आपे
हंस-विनोदद्वारा दूर करी शांत रसनुं पान करावी
पथिकोने मोक्षनगरी मन्येना प्रयाणमां प्रोत्सा-
हीत कर्या छे अने ठेरठेर ज्ञान-परबो अने
आत्मीक-वीश्रांति-स्थानो स्थाप्यां.+

आ—आपे श्री संवेगद्रुम-कंदली अने तत्त्वामृत भाषां-
तर, श्री उज्जयंतमंडन श्री नेमिनाथ भगवंतनी
अष्टोत्तरशतप्रकारी पुजा तथा श्री समेतशीख-

---

* अ=अरिहंत+अज (सिद्ध)+आचार्य+उपाध्याय+मुनि (साधु)
मानस=मानसरोवर अने मन. कंचनदेही=निर्मल.
प्रवचनमौक्तिक=वितराग प्रणीतश्रुत सिद्धांतरुपी मोती.
सहवासी तरीके मुहुंम दोलतविजयजी पन्यासजी संप-
तविजयजी-धर्मविजयजी पन्यास ललीतविजयजी-कु-
सुमविजयजी-मुहुंम कपूरविजयजी तथा रमणीकवि-
जयादि समजवा-

+ ज्ञान परबो अने आत्मीक वीश्रांतिस्थानो=ज्ञानमंदिर,

रजीवीशंती जिनपूजा आदिनी रचना द्वारा श्री सरस्वति–वाहक–हंस नाम यथार्थ कर्यु.—

हे जगजीवन वल्लभ ? केवळसहज आपना समागममां आवनारने पण आपश्रीनी निर्मलचारित्र ज्योत्स्नाथी पुनीत करी पुलकित कर्या अने ज्ञानांजन करी दीव्य दृष्टि अर्पी.×

कृतकृत्य थइ आप स्व--स्थानके पधार्या.

लायब्रेरी, पाठशाळाओ, चैत्यो, उपाश्रयो समजवा.

— सरस्वति वाहक हंस=सरस्वतिना हंस अने मयूर बे वाहनो छे. सरस्वतिने वहन करनार हंस एटले ज्ञानवंत हंसविजयजी

× जगजीवन वल्लभ=जगतना जीवोने वल्लभ अने तेमना पिता जगजीवन ने व्हाला.

केवल=फक्त अने केवळ बहेन. सहज=स्वभावीक अने दलपतभाइ आदिबंधु भगीनीपरीवार.

गुर्जरनरेश सरसयाजीराव, नांदोदना राजा छत्रसिंह सचिनना नवाब सुरतनो श्रीमंत आरब वेपारी. लखतरना दीवान. धी रोयल एसीया टीक सोसायटीना सेक्रेटरी आदिए तेमना समागमथी प्रसन्नता अनुभवी छे. स्वपक्षे पोताना मुह्रुम पीता श्री जगजीवनदास केवळबहेन अने दलपतभाइ आदि परीवारने प्रतिबोधी जैनधर्म प्रत्ये विशेष रुचीवंत कर्या. लघु भगीनी मुह्रुम गुरुणीजी महाराज श्रीमनो कंकुश्रीजीने तो, नी·

सा—सुहृद्आत्मीय श्री कांतिए प्राप्त करेल अने हृदय-निवासी भिषग्वरे संशोधेल तत्त्वसार मौक्तिक आपना दीर्घ प्रयाणमां संबल स्वीकारी उपकृत करो एज अभ्यर्थना÷

वि. सं. १९९० श्रावण शुद १५ ता. २४ आगस्ट १९३४ ने शुक्रवार (बळेव).	श्री हंसपादरेणु वाडीलाल मगनलाल वैद्य. कार्यवाहक समिति तरफे श्री हंसविजयजी जैन फ्री लायब्रेरी वडोदरा.

जन्म थयाथी. तेमनो मोटो साध्वी समुदाय श्रीमती कर्पूरश्री, महीमाश्री, देवश्री, दानश्री, माणेकश्री आदि गुजरात, दक्षिण, रजपुताना, पंजाबादि देशदेशांतरमां विचरे छे

भगिनी पुत्र, सुहृद् वैद्यराज मगनलालभाइ आदिने प्रवचन प्रत्ये विशेष श्रद्धावंत अने ज्ञान माटे प्रयत्नवंत बनाव्यां.

÷ सुहृद्आत्मीय श्रीकांति=पोताना मित्र श्री कांतिविजयजी अथवा स्वच्छ हृदयवाळा श्री आत्मारामजी तेमना लक्ष्मीविजयजी अने तेना कांतिविजयजी.
हृदयनिवासी भिषग्वर=अंगत वैद्यराज मगनलालभाइ ग्रंथ संशोधन अने अनुवाद कर्त्ता.

तत्त्वसार मौक्तिक=जैनतत्त्वसार सारांशरूपी मोती, संबल=भाथु.

संदेश.

(अवधु सो जोगी गुरु मेरा–राग आशावरी.)

हंसा उड गया अवकथ आना
गुरुराज चरण में जाना ॥
हंसा उड० ए अंचली० ॥

गुरु चरण में शीतल छाया,
अब तो मीलेगी कंचन काया;
नमना स्तवन बहुत बनाना ॥हंसा उड० ॥१॥

सीमंधर जिन चरण विचरना,
गुणीजन मुनिजन पेरी परना;
कागद कांतिविजय पर पाना ॥हंसा उड० ॥२॥

ऊर्ध्वलोक तीरथपति नमना,
धाम धाम पर दर्शन रमना;
तीरथ माल रची गुण गाना ॥हंसा उड० ॥३॥

अधोलोक में ज्यारत भ्रमना,
तीरथंकर पद पंकज शरणा;
काव्यकला कुछ और बनाना ॥हंसा उड० ॥४॥

स्थान स्थानपर नाथ हमारे,
त्रिभुवन जन को तारण वारे;
वंदन तुमरी हमरी सुनाना ॥हंसा उड० ॥५॥

कंचनगिरि गीरनार उतरना,
जिनपति नमना नाम समरणा;
सोहम् सोहम् ध्यान लगाना ॥ हंसा उड० ॥६॥

पंचासर पाटण विसरामा,
आतमराम आनंद सुखधामा;
मुनिजन कांति दिदार दीखाना ॥हंसा उड०॥७॥

प्रवर्तकजी—
श्रीमद् कांतिविजयजी महाराज.





सुज्ञ वाचकगण !

खरतरगच्छीय श्रीमान् सूरचंद गणि वाचकविरचित "श्रीजैनतत्त्वसार" नामक ग्रन्थ संस्कृत टीका युक्त एक जर्जरीत प्रत प्राचीन साहित्योद्धारक प्रवर्तक महाराज १०८ श्रीमान् कान्तिविजयजी महाराज को मीली। जिस की दूसरी कॉपी दूसरे किसी भंडार में नहिं पाई गई। इस लिये अत्युत्तम यह छोटा ग्रन्थ यौंही वीना प्रकाशन ही नष्ट न हो जाय इस उद्देश से उस का संशोधन और गुजराती भाषांतर आजीवन साहित्यप्रेमी मर्हुम वैद्यराज श्रीयुत् मगनलाल चुन्नीलाल वडोदानिवासीने कीया और भक्तिपूर्वक गुरुसमर्पित कीया। उस की सुरभि से दूसरों के सुवासित करने के लिये, परमोपकारी प्रवर्त्तक महाराजश्री कान्तिविजयजीने वीर संवत् २४३६ में श्री आत्मानन्द सभा–भावनगर की द्वारा प्रगट करवाया। उस समय जैन–जैनेतर विद्वानोंने इस छोटे ग्रंथ की जैनदर्शन की माहिती प्राप्त कर मुक्तकंठ से

प्रशंसा की और इसी कारण से अत्युत्तम इस ग्रंथ की गुजराती भाषा में दो आवृत्ति प्रगट की गई थी।

२. छात्रगण की अभिरुचि जैनदर्शन पर ज्यादा बढे और पढने में सरलता हो इस इरादा से श्रीयशोविजयजी जैन गुरुकुल के सुप्री० श्रीयुत शंकरलालभाईने " जैनदर्शन संबंधी ये बोल सहित का जैनतत्त्वसार सारांश " नामक प्रश्नोत्तर पद्धति से एक छोटा ग्रंथ गुजराती में तैयार कीया और वह विद्यार्थी आलम की सामने रजु कीया और उस का अच्छा सत्कार हुआ। प्रथमावृत्ति की २००० नकल खतम होने से दूसरी आवृत्ति भी नीकाली गई थी।

३. हिन्दी आवृत्ति श्रीजिनदत्तसूरि ब्रह्मचर्याश्रम पालीताणा से प्रगट हुई थी लेकिन उस की प्रति कम होने के कारण ज्यादा प्रचार नहिं हो सका, अतएव राजपूताना, पंजाब, बंगाल आदि देशो में रहनेवाले गुजराती भाषा से अनभिज्ञ अपने साधर्मी बंधुओं को और वहाँ के विद्यालयों को लाभ उठाने के लीये यह द्वितीयावृत्ति नीकाली जाती है।

४. जिन पुण्यश्लोक महात्मा के सदुपदेश से यह लायब्रेरी की स्थापना हुई वह शांतमूर्ति महात्मा १०८ श्रीमद् हंसविजयजी महाराज पाटण मुकाम में, विक्रमाब्द १९९० के फाल्गुन शुक्ला १० दशमी शुक्रवार के दिन प्रातःकाल में चल चोघडीये में सवासात और साढासात के समय, जैसे कोई शुभ मुहूर्त देख के अपनी संपूर्ण तैयारीपूर्वक प्रयाण न करता हो उसी तरह स्वर्गवास हुआ।

प्रवर्तकजी और पंन्यास जी महाराज पर सैंकडो सहानुभूतिदर्शक तार व पत्र हिंदुस्थान की प्रत्येक ओर से पृथक् पृथक् संमुदाय के आचार्य और श्रीसंघ की तरफ से आये है।

प्रवर्तकजी और पंन्यासजी महाराजपर सैंकडो सहानुभूतिदर्शक तार व पत्र हिन्दुस्थान की प्रत्येक ओर से पृथक् पृथक् संमुदाय के आचार्य और श्रीसंघ की तरफ से आये है। सद्गत जैन समाज की वीरविभूति और स्वयं होनेपर भी एक पवित्र आदर्श सचे त्यागी सांधु थे और उन के अवसान से सारे संघसमुदाय को महाजबरजस्त क्षति हुई है, ऐसा सूचन कीया गया है।

समस्त देश के अग्रगण्य शहरो में पाखी पाल कर (व्यापारधंधा बंध कर) देववंदन, महोत्सवादिक धर्मकार्य कीया और शोक दर्शाने के लिये सभा भरके स्थानिक संघने उनकी प्रति अनन्य गुरुभक्ति प्रदर्शित की है।×

× आचार्य महाराज १००८ श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज और श्रीमती जैन श्वे० कोन्फरन्स का सन्देश—

Extremely sorry for demise of Muniraj shri Hansavijayji. Performed deva-vandan, great lossing of one good natural and most holy soul.

Vijayanemisuri.

Sorry for sad demise of shantamurti Reverred muniraj shri Hansavijayaji maharaj. Indeed a great loss so shri sangh.

पूज्यपाद्-प्रातःस्मरणीय-स्वर्गस्थ-शांतमूर्ति १०८ श्रीमान्-हंसविजयजी महाराज का संक्षिप्त जीवनचरित्र.

गुजरातमें गायकवाड महाराज की राज्यगादी का मुख्य स्थान " बडोदा " नामका अकलीम और मशहूर शहर है, यहां अनेक नामी और आदर्श पुरुषरत्न पैदा हुए है और हो रहे है। अपने चारित्रनायकने भी अपने अवतार से इसी नगर को पृथ्वीभूषण बनाया है; सो पाठकगण आगे चलकर देखेंगे।

बडोदा शहरमें वीसाश्रीमाली " जगजीवनदास " नामके सुप्रसिद्ध शाहुकार थे। आप बडे धर्मात्मा, सरल स्वभावी, उदार गृहस्थ रहते थे, राज्यके कार्यवाहकों की साथ आपका अच्छा घनिष्ट संबंध था।

बडोदा और बडोदाके समीपवर्ती ग्राम नगरोंमें आप की अच्छी इज्जत आबरो थी, व्यपारी वर्गमें आप एक कुशळ विश्वासपात्र व्यक्ति थे।

धर्मार्थकामरूप तीनों ही वर्गका आप न्यायपूर्वक साधन

और सेवन करते थे, संसारसुरद्रुके फलरूप आपके ३ पुत्र और ४ पुत्रियें थी। आपके बडे पुत्र जिन का नाम "दलपत भाई" था, इन का पुत्र मणिलाल सपरिवार बडी अच्छी स्थितिमें आज भी बडोदेमें आनंदसे जीवन गुजारते हैं। दलपतभाईसे लघु जो आपके लडके थे उनका नाम "छोटालालभाई" यह ही महाशय हमारे चारित्र-नायक होंगे।

शेठ जगजीवनदासके तीसरे पुत्र जिनका नाम "नाना" भाई था वह थोडा ही उमरमें कालधर्मको प्राप्त हो गये थे। इनका एक पुत्र लालुभाई विद्यमान है।

शेठजीकी चार पुत्रीयोंमेंसे "विजलीबहन" यह अभी तक भी हयात है। केवलबहन सब भाइ-बहिनोंमेंसे बडे थे। वैद्य मगनलाल चूनीलालके नामको प्रायः सभी साक्षर पेहचानते हैं, वह इसी धर्मात्माकी कुक्षीके रत्न थे। मगनलाल भाई सिर्फ वैद्यक विद्यामें ही विशारद थे ऐसा नहीं बल्कि धार्मिक ज्ञानमें भी संपन्न थे। इंग्रेजी, संस्कृत और मागधी विद्यामें तो इनकी बडी ही अच्छी स्फुर्ति थी। संस्कृत "कुमारपालप्रबंध" और जैन तत्त्वसारका गुजराती अनुवाद आप ही की लेखनिका नमूना है। स्वर्गस्थ

शेठ–मनसुखभाइ भगुभाइद्वारा प्रकाशित " सिद्धहेमशब्दानुशासनवृत्ति " " न्यायालोक " " खाद्यखंडन " वगैरहके मुद्रित करानेमें और संशोधन करनेमें आप मुख्य सहायक थे। आपके विचार बडे उच्च और विशाल थे। इनका एक पुत्र वाडीलालभाई विद्यमान है वो भी कुशल वैद्यराजकी साथ समाजसेवा का कार्य कर रहे हैं।

मगनलालभाई के दूसरे भाई जमनादास चूनीलाल भी बडोदेके वैद्योंमें एक अनुभवी शास्त्रसंपन्न वैद्य है।

स्व० शेठ जगजीवनदास के तीन पुत्रोमेंसे दूसरे पुत्ररत्न जिनका नाम " छोटालालभाई " था वह ही महात्मा " श्री हंसविजयजी महाराज " के नामसे आज महीमंडलमें विख्यात हैं, इनही की संक्षिप्त जीवनकथाका यह उपोद्घात लिख गया है। अब उन महर्षियोंकी जीवनी पर वाचकवृंद ध्यान देवें।

" जन्म और कलाग्रहण "

विक्रम संवत् १९१४ शाके १७८० श्रावणवदि ०)) गुजराती अषाढ वदि अमावास्या (जिस को लौकिक में दीवासा महापर्व कहते है) उस रात–आप का जन्म शेठ

जगजीवनदास की धर्मपत्नी "माणिक्यबाई" से हुआ था, ✽ मातापिताने आप का "छोटालाल" यह नाम दिया था।

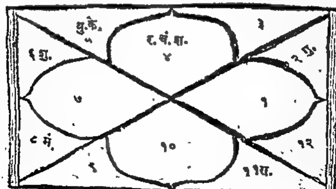
आप बाल्यावस्था से ही बडे विनीत और भद्रिक थे। आप का सौभाग्य इस कदर अच्छा था कि स्वजन लोग आप से हमेशां अनहद प्यार किया करते थे।

आप की उमर जब करीबन ८ वर्ष की हुई तब पिताश्रीने आप को पाठशाला में पढने के लिये बैठाया था।

"भाग्यानुसारिणी कीर्त्तिर्बुद्धिः कर्मानुसारिणी"

पूर्वकृत सुकृत के वश से आप बडे प्रतिभाशाली थे। थोडे ही अरसे में आप गुजराती साहित्य, गणितविद्या, इतिहास, भूगोल आदि अनेक विषयों में प्रवीण हो गये थे। आप अपने विद्याभ्यास को समाप्त कर जब व्यापारी लाइन

श्रीमद् हंसविजयजी महाराज साहेबनी जन्मकुंडली



पर चढे थे तब पिताश्री और बडेभाई के साहचर्य से अच्छे व्यापारी भी हो गये थे। आप के पिताश्री का व्यापार कपड़े दुशाले का था, मगर आप तो जौहरात का धंधा भी सीख गये थे।

" शादी और वैराग्य "

आप की उमर जब अंदाज १६ वर्ष की थी तब इस ही शहर के सुप्रसिद्ध एक शाहुकार की "सुरजबाई" नाम सुशीला कन्या से आप की सगाई की गई थी। इस हालत में भी पानी में कमल की तरह आप विरक्त थे बल्कि यहांतक कि जिस दिन आप वरराजा बन कर सकल परिवार के साथ उस प्रणयिनी को विवाहने जा रहे थे रास्ते के एक उपाश्रय में परम वैरागी महातपस्वी (श्रीमद्विजयानंदसूरि श्रीआत्मारामजी महाराज के वृद्धगुरु- भाई) श्रीमान् नीतिविजयजी महाराज बिराजमान थे। आप मन में यह ही संकल्प करते जाते थे कि इस वक्त भी अगर पिताजी मुझे इजाजत दे देवें तो घोड़े से उतर कर इस सर्व समुदाय के साथ गुरु महाराज के पास जा कर दीक्षा अंगीकार करुं और आज भी दुनिया को दिखा दूं कि प्रभु श्री नेमिनाथस्वामीने इस तरह से नवभव के प्रेमवाली पत्नी का त्याग किया था!! परंतु क्या हो सक्ता था? पिताश्री का आप के उपर असीम प्रेम था। बडे

आडंबर से आप का विवाहकार्य समाप्त हुआ। आप अब घरबारी हुए परंतु अभी तक भी आप इस जंजाल से छूटने की ही योजना में थे। हरएक मौकेपर हरएक कार्य में हरएक स्थान में आप संसारत्याग के साधनों को ही ढुंढते थे। "भोगावली" कर्म एक दृढ शृंखला है, इस से आप २१ वर्ष की उमरतक घर में रहे। अब आप का मनोरथ कल्पतरु फलने पर आया है। एक शुभ प्रसंगपर आप सुश्रावक गोकुलभाई दुर्लभदास के घर भोजन करने के लिये गये थे। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" आप की इच्छा थी कि हमें कोई धर्मसहायक मिले वह इच्छा भी पूरी हुई। श्रीयुत छगनलालभाई वहां जीमण में मिले सो आप को मददगार हुवे। दोनु स्वधर्मी भाईयोने वहां से सीधा स्टेशन का रास्ता लिया और देश पंजाब–शहर अंबाला में जा कर सं. १९३९ के माघ वदि ११ को दीक्षा अंगीकार की। गुरुमहाराजने आप दोनों भाग्यशालियों को दीक्षा दे कर क्रम से मुनि श्रीशांतिविजयजी, मुनिश्री हंसविजयजी नाम दिये और पंडित लक्ष्मीविजयजी महाराजको गुरुस्थापन किये। और साधुपनकी क्रिया शिखनी भी शुरु करवाई। इधर जब आप घरसे निकले तब आप के स्वजनवर्ग को बड़ा ही शोक और दुःख पैदा हुआ। "आप कहां गये हैं?" इस खिवर के लिये अनेक स्थलों में तार–पत्र–मनुष्य भेजे गये ...

संतोषकारक समाचार न मिला। आखीर, ढूंढते २ एक महिना होने आया। इधर शेठ जगजीवनदास के भाइओंने दुसालावाले जो अमृतसर रहते थे उनका एक आदमी हुशीयारपुर आया था इसने और श्री हंसविजयजी महाराजने बडोदे दीक्षा संबंधी पत्र दिया तब मालुम हुआ के पंजाब में है।

बस "छोटालाल कहां गये ?" यह चर्चा समाप्त हुई। सिर्फ बडोदे में ही क्या? प्रायः गुजरात के सब गाम-नगरोंमें आप के चारित्र ग्रहण की चर्चा फैला गई। आप के पिताश्री फौरन पंजाब को रवाना हुये और दृढ संकल्प कर लिया कि "सर्वस्व खर्च कर दुंगा परंतु प्राणप्रिय पुत्र को वापिस लाउंगा!!" अरे दीक्षा!, दीक्षा किसको ?, मेरे पुत्र को ?, क्युं ?, क्या मेरा पुत्र भूखा मरता रहता था ?, या किसी तरह दुखी था ? ऐसे सुकुमाल बालक को दीक्षा देनेवाला कौन ? मुझे वहां पहुंचने तो दो सब की खबर लेता हुं। रेलगाडी एक विमान है, तीसरे ही दिन शेठजी पंजाब में पहुंचे। इधर महाराज साहेब भी नवीन शिष्यों के साथ अंबाले से विहार करके शहर हुशयारपुर पहुंचे। शेठजी भी वहां गये। अब कहना ही क्या था? इस वक्त की चर्चा को ठीक २ वह ही कह सक्ता है जो उस वक्त वहां मोजूद हो। पूज्यपाद प्रवर्त्तक श्रीमत् कांतिविजयजी साहेब फरमाया करते है कि "मुनि श्री हंसविजयजीने जो जो अनुकूल

और प्रतिकूल कष्ट पिता तरफ से सहन किये है उन्हे सहन करने का उनका ही जिगर है, अन्य ऐसा दृढ चित्तवाला इस काल में होना मुश्किल है। ”

शेठजी को एक तो अनिवार्य पुत्रप्रेम था, दूसरा धन का जोर था। मनमाना बोलने लगे, मनमाना करने लगे लेकिन धर्मरुचि होनेसे लडाई के साथ प्रभावना भी करने लगे। महाराज साहेब से भी खूब चर्चा चलने लगी जिसका थोडासा अहवाल नीचे दिया जाता है।

शेठजी--आपने मेरे पुत्र को दीक्षा क्युं दी ?

महाराज साहेब--इन कों संयमके योग्य और भावी कालके शासनरक्षक जानकर, हमारे गुरुभ्राता श्रीमन्मुक्ति-विजयजी (मूलचंदजी) की आज्ञानुसार दीक्षा दीगई है। आप भाग्यशाली हैं जिन के पुत्रने युवावस्था में चारित्रका भार बडे उत्साह से उठाया है। आप कों भी उचित है कि यथाशक्ति धर्मसाधन कर इस मनुष्य जीवन को सफल करे इत्यादि।

शेठजी--(गुस्से में आकर) क्या हमारे को तुमने कंगाल समझा था ? जवाब में श्रीगुरु महाराज बोलते थे कि आज्ञा लेकर आप स्वयं बोले क्या [illegible] [illegible] है ? दीक्षा यह त्रैलोक्यनाथ की मुद्रा और [illegible] है। यदि कंगालोंका काम होवे तो श्री [illegible], [illegible], [illegible]

चक्री, सनत्कुमार वगैरह चक्रियोंने ६ खंड की राज्यऋद्धि और ६४–६४ हजार सुरूप रमणीओं छोडकर दीक्षा क्युं ली? जंबुकुमार, शालिभद्र, धन्यकुमार, धन्नाकाकंदी, थावच्चा पुत्र आदि श्रेष्ठीपुत्रोंने अभयकुमार, आर्द्रकुमार, मेघकुमार आदि राजपुत्रोंने अपनी अतुल ऋद्धि और परिवार क्युं छोडा ?

इस तरह एक मासतक पिता पुत्र के सवाल–जबाब होते रहे। आखीर साधु और श्रावक भी चिंतातुर हुए कि यह झगडा कहांतक चलेगा ? एक दिन पिता–पुत्र एकांत में मिले। पिताजीने कहा बेटा! हम तुम को लेने आये है, जरुर लेकर ही जावेंगे। मुनिश्रीने जवाब दिया कि आप पिता है, मरजी आवे सो कहें परन्तु मेरी तो यह अटल श्रद्धा है और रहेगी कि इस जन्म में अब मुनिमुद्रा को छोड कर घडोदे न जावेगा; अगर आप ज्यादा बलात्कार कर के ले जावेंगे तो मेरा मृतक शरीर ही आप के साथ आवेगा!!! बस इस से ज्यादा क्या सुनना था ? पिता को निश्चय हुआ कि मेरा पुत्र मेरे स्नेह में आ कर कदापि मुनिपना नहीं छोडेगा।

उसी वक्त शेठजी महाराज साहेब के पास आये और नम्रता से प्रार्थना करने लगे कि–साहेब ! मैं आज श्रद्धापूर्वक आप को पुत्रभिक्षा देता हुं। आप इन की सर्व

प्रकार से रक्षा करें और इन के ज्ञान–ध्यान–तप–संयम की वृद्धि होवे ऐसा प्रयत्न करें। उधर पुत्र को भी आशीर्वाद दिया कि–तुमने सिंह के समान संसारत्याग किया है इसी ही आचरण से यावज्जीव तक चारित्रका पालन करना।

अंत्य में हाथ जोड कर सकल मुनिमंडल से और विशेष कर गुरुमहाराज से प्रार्थना कि मैंने एक मास से आप लोगों को कपडे खोसने आदि प्रयत्न से खेद पहुंचाना सुरु किया हुआ है, आप के ज्ञान–ध्यान में बहुत विघ्न डाला है, आप जानते है मोहराजा बलवान् और विशेष कर इन की स्थिरता देखने के लिये भी मैंने ज्यादा आडंबर किया है, आप क्षमाप्रधान मुनिराज है, क्षमा यह आपका मुख्य धर्म है, आपश्रीजी मुझपर क्षमा करें। इस तरह मुनिमंडल को क्षमा कर शेठजी घर तर्फ रवाना हुए और चलते समये महाराज साहेब से यह प्रार्थना करते आये कि इन की छोटी दीक्षा में तो हम हाजर नहीं रह सके परंतु बडी दीक्षा हमारे सामने वडोदे में ही होवे ऐसी आप कृपा करें।

महाराजश्रीने जवाब दिया कि आप की विज्ञप्ति ख्याल में है। ज्ञानी महाराजने जैसा ज्ञान में देखा होगा वैसा होगा। अब मुनिमहाराज श्री हंसविजयजी निर्विघ्नता से गुरु महाराज के साथ विचरने लगे और अपूर्व ज्ञान सम्पादन करके आत्मा को भावित करने लगे।

५२ चउमासों का संक्षिप्त हाल तथा धर्मोपदेश-द्वारा धर्मक्रियायें.

१ पहेला चौमासा आप का श्रीयुत लक्ष्मीविजयजी गुरु महाराज के साथ शहर हुशीयारपुरमें हुआ। २ दूसरा गुरु महाराज श्री लक्ष्मीविजयजी के साथ रामनगर में हुआ। ३ तीसरा जीरा में यह चउमासा भी आप का गुरु महाराज के साथ ही हुआ। ४ चोथा चउमासा (उपाध्याय) श्रीवीरविजयजी तथा (प्रवर्त्तक) श्री कांतिविजयजी महाराज के साथ शहर जयपुर में हुआ, यहां सहपरिवार जब गुरुमहाराज पंजाब से पधारे तब इनकी आज्ञा ले कर अजमेर तथा शहेर पाली आदि शहरों के चैत्य जुहारते गोलवासकी पंचतीर्थी तथा तारंगाजी की यात्रा कर के आप बडोदे पधारे। पिताश्रीने राजा महाराजा की स्वारी जैसे ठाठ से नगर प्रवेश करवा के बडे आडम्बर के साथ गणिवर्य श्रीमुक्तिविजयजी (मूलचंदजी) महाराज से संवत १९३९ जेठ सुदि १० को बडी दीक्षा दीलाई। ५ मा चउमासा भी शहेर बडोदा में हुआ। ६ वां चौमासा शहर अहमदावाद में बडे महाराज के साथ। ७ वां चउमासा सूरत महाराजश्रीके ही साथ। ८ मा चउमासा पालीताणे महाराजश्रीजी के साथ हुआ। ९ मा चउमासा अणहिलपुर पाटण में हुआ। में उत्तराध्ययन कमलसंयमी टीका और स्थूलि-

चंद्र चरित्र वाचा गया। चौमासे बाद शेठ झवेरचंद के संघ के साथ पालीताणे आए और बडे ठाठ से सिद्धाचल की यात्रा की। वहां से चल कर आप गिरनारजी की यात्रा करने वास्ते जूनागढ पधारे। वहां से मांगरोल, वेरावल, प्रभासपाटण, पोरबंदर, वेलाचंगा होकर "जामनगर" पधारे और दशमा (१०) चौमासा यहां किया। व्याख्यान में "श्राद्धविधि" और "वासुपूज्य" वांचा। चउमासे के बाद मोरबी हो कर पालणपुर पधारे और तीर्थाधिराज सम्मेतशिखर की यात्रा का निश्चय किया। महाराज साहेब की आज्ञा लेकर आबुराज की यात्रा करके सिरोही, जयपुर, भरतपुर वगैरह होकर आप "संखर" पधारे और अग्यारमा चौमासा यहां ही किया। व्याख्यान में ज्ञातासूत्र और चंद्रप्रभुचरित्र सुनाकर श्रोताओं के मन को अति प्रफुल्लित किया। उठे चउमासे आपके पिताजी के संघ के साथ आप शौरीपुर, प्रयाग, बनारस, सिंहपुरी, चंद्रावती, आरा, पटणा होकर नगरियों की यात्रा करते हुए श्रीसम्मेत-शिखरजी पहुंचा और परम उल्लास से तीर्थाधिराजजीकी यात्रा की। वहां पर कलकत्ते से राय० बद्रीदासजी बाबु आदि सद्-गृहस्थ आपश्रीजी को विनंति करने के लिये हाजर हुए थे, इन की विनंति स्वीकार के आप श्री शीतलनाथ स्वामी की यात्रा करने वास्ते कलकत्ते पधारे। रा० बद्रिदास बाबु तो शेठ पुनमचंदजी आदि श्रीसंघने बडा भारी सन्मानिक

(सामेला) करके कलकत्ते के बजार में अंदाज बैठासो रुपैकी वृष्टि की। यह कलकत्ते के इतिहास में पहला बनाव है। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के ऑनररी सेक्रेटरी डॉक्टर भट्ट ए० एफ रूडॉल्फ हारनल साहेबने श्री महाराज साहेब की बड़ी नम्रता से मुलाकात की और कई सवालों के यथार्थ उत्तर मीलने से संतोष प्रदर्शित किया। वहां से आप अजीमगंज पधारे। बाबू लोकोंने बड़ा भारी प्रवेश महोच्छव किया। श्रीसंघ का अति आग्रह होनेसे बारमा चउमासा आपने मकसूदाबाद किया। चउमासा बेठार आपने अब राजगृही नगरी के वैभारगिरि पर्वत उपर श्रीमुनिसुव्रत-स्वामी की मूर्ति, टुटा हुआ देवल में घास के अंदर देखी और इस मूर्ति को बलोचावाले संघद्वारा पहाड़ के नीचे उत्तराकर धर्मशाला में पधराइ थी, वहां पर प्रभु के चार कल्याणक होनेसे तीर्थका उद्धार करने का उपदेश दिया। तब राजा विजयसिंह की माता, सासी आदि श्राविकाओंने धर्मशाला के पास मंदिर बंधवा के तथा मूर्ति का लेप करवा के पहाड़ के नीचे तीर्थ स्थापन किया। राय धनपति-सिंह बहादुरने श्रीसमवसरणजी की रचना करवा के बड़ा भारी महोत्सव किया उसमें राणी मीनाकुमारीने सोने के सव ता–चांदि के चावल ता–मोती के स्वस्तिक कर के हीरा-जडित सोपारी चढाइ। व्याख्यान में शत्रुंजय महात्म्य और

१ टीप—१९५७ को अकाल के सेठ फूलमचंदजी हर्षचंदजीने किया।

दानोपदेशमाला वांची गई। कल्पसूत्रकी वांचना में मोतियों के स्वस्तिक पूरे जाते थे। केई दफे रुपैयों की प्रभावना भी होती थी। सुपने उतारने का प्रारंभ हुवा। चउमासे पीछे राणी मेनाकुमारीने समेतशिखर वगैरह का संघ निकाला जिस में हाथी वगैरह का बडा ठाठ था। इस संघ के निकालने में इस श्राविकाने हजारो रुपैयों का खर्च कर गुरुमहाराज को यात्रा कराई। समेतशिखर की यात्रा कर के आप पंजाब पधारे और "जंडियाला गुरु का" इस शहर में श्रीमद्विजयानंदसूरि महाराज के दर्शन कर कृतार्थ हुए। गुरु महाराजने भी बडा आदरसत्कार किया और श्रीभगवतीसूत्र की टीका पढाना शुरु कर दिया। महाराजश्री की आज्ञानुसार तेरमा चउमासा शहर "अमृतसर" में किया। चउदमा "जीरा" और पंदरमा "बीकानेर" कीया। वहां पर समवसरण की रचना प्रथम ही होने से हजारों स्वपरमतीने लाभ लीया। सोलमा "जयसलमेर" कीया (वहां प्राचीन भंडारको भूमिगृह में से तथा पाषाण की कोठीयों में से निकलवा कर त्रुटक तथा संपूर्ण पुस्तकों को अलग कर के पंन्यास श्रीसंपतविजयजी पास अच्छे बंधनो में बंधवा के तथा अति उपयोगी पुस्तके लिखारियों-द्वारा लिखवा कर पाषाण की नई आलमारीयों में पधराये और टीप (लिष्ट) करा कर ज्ञान का उद्धार किया। वहां से आप का फलोधी में आना हुवा, धर्म का बडा उद्योत

हुआ। गुलेच्छा फूलचंदजीने समवसरण की रचना की, अनेक पुन्यात्माओंने दर्शन–पूजन से अपने इस मानवजीवन को सफल किया। यहां से फूलचंदभाइ के संघ के साथ आपश्री ओसिया नगरी पधारे और आनन्द से यात्रा की और सवालाख ओसवाल बनानेवाले श्रीरत्नप्रभसूरिप्रतिष्ठित महावीरस्वामी के देवल पर ध्वजा चढवा के यहां फाल्गुण सुदि तीज का सालाना मेला कायम किया। यहां से आप पालणपुर पधारे और सत्तरमा चउमासा यहां ही किया। चउमासे में आपश्री ज्ञातासूत्र का व्याख्यान सुनाते रहे। इस चउमासे में शेठ अमोलखचंदने श्रीसिद्धाचलजी का संघ निकालने का निश्चय कीया। उतरे चउमासे आप श्रीसंघ के साथ सिद्धक्षेत्र पधारे और तलाजा की यात्रा भी की। यहां पर श्रीविजयानंदसूरीश्वर महाराजा का स्वर्गगमन संबंधी गुजरानवाले से तार आया, इस से बडा रंज पैदा हुवा। इस की शांति के लिये तलाजा का श्रीसंघने बडा भारी अठाइ महोत्सव तथा दान–पुण्य किया। फेर पालीताणा में अठारमा चउमासा रह कर गिरिराज के ध्यान से आत्महंस को अति उज्वल किया तथा फलोधीवाले मोतीलालजी कोचर को उपदेश दे कर गिरिराज के उपर श्रीबीसविहरमान स्वामी के देवल का जीर्णोद्धार करवाया तथा लस्कर के दिवान फूलचंदभाइ को उपदेश दे कर श्रीअष्टापदजी में श्रीगौतमस्वामीजी की मूर्ति तथा रावण–मंदोदरी की मूर्तियें

पधराइ। कपडवणजवाले श्रीयुत मोंताभाइ को उपदेश दे कर श्रीविजयानंदसूरीश्वर महाराज की मूर्ति गिरिराज के उपर पधराई। वहां से आप अमदावाद हो कर पादरे पधारे और उगणीसमा चउमासा वहां किया। वहां ११५ वर्ष से एक टंटा जारी था जो आप की अतुल उपदेशशक्ति से नाबूद हुवा और श्रीआत्मानंद पाठशाला की स्थापना भी हुइ। इस के पीछे आप वडोदे पधारे और वीसमा चउमासा वहां किया। इस चउमासे में अट्ठाइ महोत्सवादि धर्मकृत्य अच्छे हुवे और श्रीविजयानंदसूरीश्वरजी की मूर्ति मंगवाइ। इस को विराजमान करने के लीये श्रीमती श्राविका विजली बहीनने आरस की छत्री बंधवा के उस मूर्ति के साथ श्रीलक्ष्मी-विजयजी महाराज की चरणपादुका पधराइ, तथा वहांपर श्रीनवपदजी के मंडल की बडी भारी पूजा हीरा, मोती, माणेक आदि सामग्री से हुई। वडोदे से विहार कर आप दक्षिण तर्फ पधारे। सखाराम शेठने तथा कच्छी श्रावकोने एक माइल तक धूलिया शहर को वाइसराय के प्रवेश जैसा ध्वजापताका तथा विविध जाति के सोनेरी वा. मोती वगैरे के तोरण से वा. दरवाजे से शणगार के करवाया और झवेरात से वा. सोने–रुपे के फूलों से बधाये। फेर आप पारोले पधारे वहां तथा दुसरे अनेक गामों में बारां वर्ष के तड पडे थे इस लिये सखाराम शेठने सब गामोंवाले को वहां संमिलन कर के महाराज के उपदेश से संप कर लीया।

समारोह से हुआ जिस को पंन्यास संपतविजयजी का शिष्य बनवाया तथा श्रीपुंडरीक गणधर महाराजादि की तीन देरीए शेठ नेणसीभाईने बनवाई। आपने महेसर आदि अनेक प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा की और मद्रेश्वरजी में श्रीसुधर्मास्वामी की वा. श्रीविजयानंदसूरिजी महाराज की मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। २९ मां चउमासा मांडवी के बंदर ऊपर समुद्र के किनारे धर्मशाला में किया, वहां उपधान वा. समवसरण का महोत्सव, वा. उपधान तप हुआ। कच्छ देश में अंजार वा. मुन्द्र, मुद्रा आदि में अनहद उपकार हुआ। आप इस देश का विहार समाप्त कर फिर कोन्फरन्स के मोके पर भावनगर पधारे। श्रीसंघने चार हाथी तथा निशानडंकादि राजकीय सामग्री से बड़ा भारी प्रवेश महोत्सव करवाया, उस में कोन्फरन्स के प्रेसिडेंट शेठ मनसुखभाई भगुभाई आदि हजारों हिन्दुस्तान के जैन भाईयोंने भी भाग लिया। वहां से आप पालीताणे पधारे और ३० मां चउमासा गिरिराजजी की शीतल छाया में किया। चउमासा में श्रीनंदीसूत्र टीका वांच कर भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग के अधिकारी बनाया। चउमासा पूर्ण कर के आपने राजनगर में साडंबर प्रवेश कीया, वहां पंन्यास श्रीसंपतविजयजीने सरदार शेठ लालभाई की माता गंगा-शेठाणी आदि भव्यात्माओं को उपधान तप करवाया; । इन्हों के उपदेश से शेठ वीरचंद दीपचंद सी. आइ. ई.

की सुपत्नी हाही शेठाणीने कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमाचार्यजी महाराज की मूर्ति, उन की जन्मभूमि धंधुका में पधाराने वास्ते मंगवाई । ३१ मां चौमासा भी यहां किया । राजनगर सें आप बड़ोदे पधारे । वैद्यराज जमनादास चुनीलालने चांदी की अंबाडी सहित रजवाडी अनेक हाथी वगेरे सामग्री से महान् प्रवेश महोत्सव किया । पंन्यास श्रीसंपतविजयजीने वहां उपधान तप करवाया । वहां सें सूरत पधारे और ३२ मां चउमासा प्रवर्त्तकश्रीजी के साथ सूरत में ही किया । चउमासा में उपधान आदि अनेक पवित्र उत्तम कार्य हुवे । "कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते, साकामधुक्कामितमेव दोग्धि। चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते, सतां हि संगः सकलं प्रसूते।।"

सूरत से विहार कर के आप सचीन पधारे । संघने आपश्रीजी की अतिशायिनी सेवा बजाई । गांव में अल्प सामग्री होते हुए भी श्रीसंघ की अति श्रद्धा को देख कर श्रीमान् नवाब साहेबने लोगो से पूछा कि जैन लोगो के यहां आजकल धूम–धाम किस बात की है ? जब यह विदित हुवा कि उन के एक प्रतिष्ठित, त्याग की जीवित मूर्ति, जंगम–कल्पतरु समान एक मुनिमहाराज पधारे हैं तब तो नवाब साहेब के मन में भी श्रद्धा का संचार हुआ । महेल में पधारने का निमंत्रण भेजा। उस वख्त शाम पड गई थी इस लिए साधुधर्म से खिलाफ टाइम होने से

इन्कार किया तब नवाब साहेब अपने सुयोग्य कर्मचारियों की सेवा में आये, तथा आप से बड़ी इज्जत से मिले।

क्यों न हो? नीतिकार लिखते हैं कि "विनयं राजपुत्रेभ्यः" नवाब साहेब अपनी साहेबी के साथ बड़े ही ठाठमाठ से पानसुपारी, अत्तर-फूलकी सामग्री भेटके लिये साथ ले, तथा एक सुन्दर दोशाला इत्यादि लेकर आपके दर्शनार्थ तशरीफ लाये। आपको सविनय नमस्कार कर सुखशाता पूछी।

महाराजश्रीने भी उनको सस्नेह कुशल प्रश्न पूछ, जीवदया का उपदेश देकर शेष सर्व वस्तुओं को अपने साधुधर्मके अनुपयोगी समझ पीछे लोटा दी; परन्तु नवाब साहेबके अनुरोधमें दुशाला श्रावकोंने सुरतके संघको सुप्रत कर दिया सो बड़ाचौटा का उपाश्रय में मौजुद है। नवाबसाहेब पर आपके सच्चरित्र एवं सदुपदेश का खूब गहरा प्रभाव पड़ा।

तदनन्तर आप बिलीमोरा पधारे। मुझे भी यहां पर कई एक साधुओ के साथ आपकी सेवा में उपस्थित होने का मौका मिला। प्रेमपूर्वक चैत्र की ओली तथा उसके बाद भी कुछ समय वहां पर ठहरना हुआ।

वहां से आप नवसारी पधारे। यहां जैन श्रीहंसविजैन पाठशाला की स्थापना की सो

अद्यापि विद्यमान है, वहांसे आप गणदेवी पधारे । मैं भी कुछ साधुओं के साथ आप की सेवा में उपस्थित हुआ । अठाई महोत्सव में पूजा प्रभावना का ठाठ रहा ।

वहां से जलालपुर, बलसाड, उटडी आदि गामों में होते हुए आप दमण पधारे । वहां पर आपने श्रीसंघ की विशेष प्रार्थना से सं. १९६७ का चातुर्मास किया । इस चातुर्मास में आपने सटीक दशवैकालिक सूत्रका प्रवचन किया। व्याख्यान में नर-नारीयों का जम घटसा रहता था।

चातुर्मास की समाप्ति होने पर वहां से आप सुरत पधारे । यहां पर यह बतला देना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है कि सुरत में आप के आगमन से कइएक उत्तम कार्य हुए । नीतिकार फरमाते है कि " किन्न कुर्यात् सतां संगः ? । "

यहां पर श्रीगोडीजी महाराज के देरासर में सिरोही के भूतपूर्व दीवान श्रीयुत् मेलापचन्द्रजी की तरफ से श्री आत्मारामजी महाराज की मूर्त्ति स्थापित करवाई । अठाई महोत्सव का बडा ठाठ रहा । यहां से आप बडोदा पधारे। इन दिनों पर एक मुनि संमेलन होनेवाला था, अतः आप को भी वहां पर करीबन दो ढाई महीना तक रहना पड़ा । तदनन्तर आप बडोदे से शीनोर पधारे ।

संवत् १९६८ का चातुर्मास आपका शीनोर में

हुआ। वहां के मापक लोगोंमें आप का स्वागत बडी ही श्रद्धा से किया। चातुर्मास में कइएक धर्मकार्य हुए। उद्यापन महोत्सव आदि कार्यों में श्रद्धालु लोगोंने बडी दिलचस्पी दिखाई।

बडोदे से गायकवाड सरकार के हाथी, चांदी की अंबाडी वगैरा सब सामग्री तैयार थी, एवं भगवान को चांदी के रथ में विराजमान कर के बडी ही धूम-धाम से सवारी निकाली गई।

वहां से विहार कर के आप ग्रामानुग्राम विचरते तथा धर्मोपदेश देते हुए नांदोद स्टेट के प्रतापनगर के ठाकु साहेब तथा वकील छगनलालजी, वैद्यराज की प्रार्थना से मुनिमहाराज (वर्तमानाचार्य) श्रीवल्लभविजयजी के साथ नांदोद पधारे। राजकीय निशानडंका के साथ प्रवेश हुआ वहां श्रावक का घर एक भी न होनेसे डभोइ, शीनोर आदि अनेक गाम के श्रावक हाजर हुवे थे।

महाराजश्री के मधुर वचनों से, तथा विद्वच्छिरोमणि मुनिमहाराज (वर्तमान आचार्य) श्रीवल्लभविजयजी के जाहिर व्याख्यानों से महाराज छत्रसिंहजी साहेब तथा दीवान साहेब आदि सारे सभासद खुश हुए। महाराज साहेबने आप के बुद्धि वैचित्र्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा और अपने गोशाला के लिए कुछ जमीन देने व

भी वचन दिया। आप की विद्वत्ता और सौम्यताने यहां के लोगों के हृदयो को अपनी ओर खींच लिया। शास्त्रकारो-ने ठीक ही कहा है कि " किमसाध्यं महात्मनाम् "

आप का सुयोग मिलने से लोगोने कइएक धर्मकार्य किये। अनेक प्रसिद्ध पत्रों में आप के जाहिर व्याख्यानों की खबरें सुन–पढकर महाराजा (गायकवाड) को भी आप के दर्शन की प्रबल इच्छा हो उठी। महाराजा साहेबने डाक्टर बालाभाई एल. एम. एन्ड एस. द्वारा पत्र लिखा कर आप की सेवा में भेजा। आप महाराजा साहेब की प्रार्थना स्वीकार के मुनिश्री (वर्त्तमान आचार्य) श्री वल्लभविजयजी महाराज के साथ ग्रामानुग्राम विचरते एवं अपनी अमृतमयी वाणी से ज्ञानपिपासित जनो कों तृप्त करते हुए बडौदा पधारे।

वहां पर आप दोनों महाराजा साहेब (गायकवाड) सस्नेह मिले। आप के उपदेश तथा सान्तवन वचनो से गायकवाड सरकार बहुत ही प्रसन्न हुए। इस वक्त श्रीहंसविज-यजी महाराजने कच्छ मोटी खाखर के शत्रुंजयविहार नाम का मंदिर में एक प्राचीन शिलालेख था, उस की हस्तलिखित नकल महाराजा के करकमल में भेट की जिस में कच्छनरेश भारमलजीने राजविहार जैनमंदिर बनवा के प्रतिमाए पधराई और जीवदया पलवाइ उस का उल्लेख था; सो सहर्ष स्वीकार कर महाराजने

सुयोग्य स्थान में रखवाया और उन्होंने कहा कि आप यहां पर भी जाहिर व्याख्यान दे कर धर्मप्रचार की कोशिश करें; क्यों कि यों तो उपदेशक साधु-सन्त अनेक आया ही करते हैं और उपदेश-व्याख्यान-भाषण वगैरा करते ही रहते हैं परन्तु सत्यधर्म का प्रचारक मैंने अभीतक कोई नहीं देखा। अतः आप इस कार्य का भार अपने पर ले कर सत्य-धर्म का प्रचार करें।

आपने महाराजा साहेब की प्रार्थना को स्वीकार ली। शास्त्रकार फरमाते हैं कि " महत्सु जायते जातु न वृथा प्रार्थना.... ।" अस्तु.

शहर के प्रसिद्ध न्यायमन्दिर में आप की प्रमुखता में दो सभाएं हुईं। मुनिमहाराज (वर्तमान आचार्य) श्री वल्लभविजयजी साहेबने वक्तृता दी। उपस्थित सभ्यवृन्दने धन्य २ की प्रतिध्वनी से सभामंडप को खूब ही प्रतिध्वनित किया। आप का व्याख्यान हो रहा था, न्यायमंदिर चिकार भरा था, साधु-साध्वी भी बहुत बडी संख्या में हाजिर थे, व्याख्याता मुनि महाराजने फरमाया कि श्रोताओं की इस एकाग्रता को देख कर मैं चाहता हूं कि इस व्याख्यान को कुछ और मीलवाऊं मगर लाचारी है संक्षेप करना पडता है, क्योंकि जो जो साधु-साध्वी यहां बिराजमान हैं उन के जलपान का समय हो गया है। जैन के साधु-साध्वी रात्रि को अन्नजल नहीं लेते।

इस बात को सुन कर बडौदानरेश के छोटे भाई खडे हुए और बोले गुरु महाराज ! साधु–साध्वीजी को जलपान के लिये जाने दिजिये परन्तु हमें जो अमृतपान मिल रहा है इस में अन्तराय न होने दीजिये। आप खुद प्यासे रह गये मगर व्याख्यान आधा घंटा और भी लंबा कर सभा को उपकृत किया।

यहां से विहार कर के आप पाटण पधारे। यहां पंन्यास श्रीसंपतविजयजी के संसारी भाईने प्रवेश महोत्सव बड़ी धूम–धाम से कराया। तदनन्तर श्रीयुत चुनीलाल खुबचन्द, उत्तमचन्द खूबचन्द और खीमचन्द भूलाजी आदि महाशयोंने उद्यापन महोत्सव किया।

सं. १९६९ भूपालानिवासी श्रीयुत मुमुक्षु कस्तुरचन्दजी को दीक्षा दे कर पंन्यास श्रीसंपतविजयजी के शिष्य बनाये। नाम मुनि श्रीवसन्तविजयजी रखा गया। दीक्षा महोत्सव बडी उत्तमता से संपूर्ण हुआ।

यहां पर पालनपुर का श्रीसंघ आप को पालनपुर में चातुर्मास करने की विनंति करने आया। आपने श्रीसंघ की विनंति स्वीकार कर के इस वर्ष का चातुर्मास पालनपुर में किया।

चातुर्मास के बाद आपने पेथापुर श्रीसंघ की अभ्यर्थना से वहां पर पधार कर बावन जिनालय मन्दिर चौदह [illegible] कराई।

यहां पर एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि प्रतिष्ठा के समय श्रीनेमिनाथ स्वामी की मूर्ति में से अमृतवर्षा हो रही थी; यतः " अचिन्त्यो हि देव-प्रभावः " अस्तु।

इस प्रतिष्ठा महोत्सव में लगभग बीस हजार रुपये खर्च हुए होंगे। मैं भी यहां पर आप की सेवा में हाजिर हुआ।

वहां से विहार कर के आप पाटण श्रीसंघ की अभ्यर्थना से केसरियाजी की यात्रा करने के लिये मेवाड़ पधारे। उस वक्त १२ साधु-साध्वी और लगभग ९०० श्रावक-श्राविकाएं यात्रार्थ आप के साथ में थी। पाटण के संघ साथ जब आप इधर पधारे तब लेखक भी अनेक साधुओं के साथ मिल गया। केसरियानाथजी की यात्रा साथ ही थी। वहां से आप जब मालवे पधार रहे थे डूंगरपुर तक मुझे आप की सेवा का लाभ मिलता रहा। वहां से मैं कुछ साधुओं के साथ गुजरात चला गया और आप तीर्थराज श्रीकेसरियाजी की यात्रा कर के डूंगरपुर, बनकोड़ा, सागवाड़ा, बांसवाड़ा आदि नगर-ग्रामों में होते हुए रतलाम पधारे।

यहां के श्रीसंघने आप का ध्वजा-पताका, बंगदीय तोरण, दरवाजे कमानों, बोर्डों से शहेर को सज वगेरा विविध प्रकार की सामग्री से, उत्साह पू

श्रद्धापूर्वक स्वागत किया। क्यों न हो, " सामान्योऽप्यतिथिः पूज्यः किं पुनः पुरुषोत्तमः ? "।

सं० १९७० का चातुर्मास रतलाम में ही हुआ। इस में आपने आवश्यकसूत्र सटीक और श्राद्धगुणविवरण का वांचन किया। कइएक जैनेतर श्रोतालोगोने आप के उपदेश से सन्मार्ग का अवलम्बन कर अपने आत्मा को पुनीत किया। इतना ही क्युं ? वहां के महाराजाने राजकुमार महेल में गुरुमहाराज की मुलाकात ली। गुरुवर्यने १४ सुपन का चित्रपट और जीवदया का साहित्य महाराजा के करकमल में समजुती साथ अर्पण किया। महाराजाने सहर्ष स्वीकार के तारीफ की।

इस अवसर पर पंन्यासजी श्रीसंपतविजयजीने उपधानतप करा कर समवसरण महोत्सव के साथ मुनिमहाराज (वर्तमान आचार्य) श्रीमद्वल्लभविजयजी के शिष्य श्रीसोहनविजयजी को गणीपद तथा पंन्यासपदवीसे विभूषित कर, कुछ साधुओ को बडी दीक्षा दी।

यहांसे आप प्रतापगढ पधारे। यहांपर चौथा लक्ष्मीचन्दजीने आप के नाम के स्वागत बोर्ड तथा ध्वजापताकादि से शहेर को विभूषित कराकर आप का प्रवेश नगर में कराया। जल्सा बडा अच्छा रहा। यहां के महाराजा साहेब भी आप के दर्शनार्थ पधारे, और आप के साथ

कराने लीये कोशीष की परन्तु आप सक्षम रहें। सुरतसें चोमासा पुरा कर के देवास पधारे, यहां दरवारी रीयासत के साथ प्रवेश हुवा। वहां के नरेश म्हलारराव महाराजा के भ्राता सासासाहेब महाराजश्री के दर्शनार्थे पधारे और रींगणोद तीर्थ की तरकी करना स्वीकार कीया। वहांसे विहार करके आप बडौदा पधारे और १९७३ का चातुर्मास आपने बडौदा में किया। वहांसे विहार करके आप शहान-गर पधारे और सं. १९७४ का चातुर्मास पांजरापोल में किया।

वहांसे विहार करके आपने पालीताणा में पधारकर उपधान कराये। सं. १९७५ की साल का चातुर्मास यह ही करके तथा चातुर्मास के अनन्तर यहांसे विहार करके आप जूनागढ पधारे। संवत् १९७६ का चातुर्मास जूनागढ में हुवा।

यहां पंन्यासश्री संपतविजयजी की प्रार्थना से गिर-नारमंडन श्री नेमिनाथ भगवान की अष्टोत्तरशत १०८ प्रकार की पूजा कर वहांसे विहार कर आप पुण्यनगर (पाटन) पधारे तथा सं. १९७७ का चातुर्मास आपने यहां शालियाखाडे किया। आपके उपदेशसे पंन्यास श्री संपतविजयजी के संसारी भाइ चुनीलाल खुबचन्दभाईने उपधान कराये।

तथा चातुर्मास के उपरान्त उत्तमभाइ खूबचन्द, चुनीलाल खुबचन्द दोनु भाइने पालीताणा का संघ निकाला।

सं० १९७८ की साल का चातुर्मास भी आप का पाटन में अष्टापद की धर्मशाला में ही हुआ। वहांसे विहार कर के आप राजनगर पधारे और सं० १९७९ का चातुर्मास आंबलीपोळ में हुआ। चातुर्मास के बाद शेठ माणेकलाल जेठाभाइने उद्यापन कर के विजयानंदसूरीश्वर की मूर्ति पधराइ, और उन की जयन्ती करने के लीये २००० रुपैये निकाले गये। लुणसावाडे के वासी सुतरीआ जेसंगभाई की तरफसे उद्यापन महोत्सव हुआ। लुणसावाडे का संघ की विनंति से आप का सं. १९८० का चातुर्मास वहां हुआ। आप का उपदेश से सोमचाइने शहेर यात्रा करवाइ।

वहां से विहार करके आप गंभीरा ग्राम में पधारे। वहां पर उमेटा के दरबार साहेब के कहने से वहां के नगरशेठ तथा डाक्टरसाहेब आप से विनंति करने के लिये आये। उन महाशयों की विनंति सुनकरके आप बडे ही स्वागत के साथ उमेटा पधारे। वहां पर आपने दरबारसाहेब को जीवदया पालन का उपदेश कियां। आप के उपदेशने सचमुच जादूका सा काम किया। दरबारसाहेबने आप के उपदेशसे एक प्रतिज्ञापत्र लिखा कि अमुक २ जीवो का हमारे यहां वध बन्ध रहेगा इत्यादि।

वहां से विहार कर के आप बडौदा पधारे और सं. १९८१ की साल का चातुर्मास अपने वहां किया। इस

प्रसंग पर आप की आज्ञा से पंन्यासजी महाराजने उपधान करवाए।

चातुर्मास के उपरान्त अहमदाबाद के धर्मप्रेमी सुतरीआ माणेकलाल हरजीवनदास के चिरंजीवी चन्दुलाल, पट्टणनिवासी लाला मोतीचन्द और एक स्थानकवासी भाई इन तीनों को दीक्षा देकर पंन्यास श्रीमंगलविजयजी के शिष्य रमणिकविजय, मुनिमहाराज (वर्तमान आचार्य) श्रीविजयवल्लभसूरि के शिष्य शिवविजय और मुनि गफुर-विजयजी के शिष्य शिवविजय, इस प्रकार अनुक्रम से शिष्य बनाये। उसी प्रसंग पर चार साध्वीयों को भी दीक्षा दी गई। यह सर्व कार्य इस चरित्र लेखक की मौजूदगी हुए।

वैद्यराज बापुभाइ मुलजीभाइ की खास विनंति से आपने श्रीसमेतशिखरजी विशती जिन की पूजा रची। इसको समेतशिखरजी की रचना साथ स्वस्थानक की अठ्ठाइ महोत्सव साथ पूजा पढाइ गइ।

वहां से विहार कर के पादरा पधारे। तथा वहां के संघ की विशेष प्रार्थना से सं. १९८२ का चातुर्मास आपने पादरा में किया। वहां ताराचंदभाइने श्रीआत्मारामजी महाराज की मूर्ति पधराने के लिए आरसपहाण की देरी करवाइ। तदनन्तर अमदावादनिवासी शेठ पूजाभाइ दीप-

चंद की विशेष विनंति से विहार कर मुजपुर, गंभीरा, बोरसद, पेटलाद और मातर होते हुए आप खेडा पधारे ।

वहां पर आप के गुरुभ्राता आचार्य महाराज श्रीविजयकमलसूरीश्वरजी महाराज के स्वर्गलोकनिवासी होने के समाचार मिलने से आपने संघ को कहकर अट्ठाइ महोत्सव कराया ।

वहां से विहार कर आप अहमदाबाद पधारे । शेठ पूजाभाइ दीपचंदने वहां पर बडे ठाठमाठसे आप का प्रवेश करवाया और उद्यापन भी किया ।

सं. १९८३ का चातुर्मास आपने लुणसावाडा में किया तथा महाराजश्री के विद्वान् शिष्य पंन्यास श्रीसंपतविजयजी के उपदेश से झवेरीवाडा के ल्हेरिया पोल के निवासी शा. कर्मचन्द फुलचंदने उपधान कराए ।

सं. १९८३ का चातुर्मास पूरा होते ही आप का विचार पाटण की ओर जानेका था । इसी विचार से आप हठीभाइ की वाडी में पधारे, किन्तु वहां पर तबीयत नर्म होने के कारण कुछ रोज रह कर आपने विहार किया और शाहीबाग, सेनीटरीयम में निवास किया परन्तु तबीयत ठीक नहीं हुइ । इन दिनो पूज्यपाद प्रवर्तकजी महाराज तथा आचार्य महाराज श्रीमद्विजयवल्लभसूरिजी महाराज पाटण पधार गए थे । उस वक्त पाटण का संघ आप से

पूज्यपाद श्रीप्रवर्तकजी महाराज के साथ किया । इस चातुर्मास में आचार्य महाराज श्रीमद् विजयकमलसूरीश्वरजी के शिष्य श्रीनेमविजयजी को पंन्यास संपतविजयजी गणीद्वारा आपने भगवती वगैरा के योग करा कर गणि पदवी प्रदान की ।

चातुर्मास के उपरान्त १९८६ का चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को मेत्राणा की यात्रा के लिये आपने विहार किया और चैत्र शुक्ला १५ के रोज वहांपर मेला था अतः महाराजसाहेब वहां विराजमान थे ।

इस वक्त पालणपुर के संघ को खबर हुई कि महाराजसाहेब मेत्राणा पधारे है, तो वहां के नगरशेठ श्रीयुत चमनलाल वगैरा श्रीसंघ के साथ मोटर में बैठकर वहांपर आप को विनंति करने के लिए आए । आपने पालणपुर के संघ की विनंति स्वीकार कर के पालणपुर पधारने का वचन दिया । संवत १९८६ के चैत्रकृष्ण ५ के रोज मेत्राणा में नेमविजयजी गणीको आपने पंन्यास श्रीसंपतविजयजी हस्तगत पंन्यासपदवी प्रदान कर वहां से विहार किया और पालणपुर पधार कर सं. १९८६ का चातुर्मास किया ।

वहां पर "जैनयुग" में प्राचीन जैन तीर्थ रामसैन्य नामक लेख पढा, अतः चातुर्मास के बाद वहां की यात्रा

विनंति करने आया। इस में मुख्य २ गृहस्थों के नाम निम्नलिखित मुआफिक हैं। नगरशेठ पोपटलाल, शाह वाडीभाई हीराभाइ इत्यादि।

महाराजसाहेब को विहार कराने को ये परन्तु रात्रि में कुछ तबीयत विशेष नर्म होने से विहार नहीं कर सके। तदनन्तर फेर पाटणसंघ नगरशेठ, वैद्यराज मोहनभाइ वगैरा आए; और दूसरी तरफ आचार्यदेव की आज्ञा से पं. उमंगविजय आदि ४ साधु महाराजसाहेब को बुलाने आए थे। आखिर मुनिराजों की विनंति और संघ की विनंति से आपने पाटण की तरफ विहार किया। साथ में नगरशेठ और वैद्यराजजी रहे।

बीच में महेसाणे का मकरो प्रसंगे पालणपुर का संघ आप से विनंति करने को आया, परंतु पाटण के संघ की विनंति आग्रहपूर्वक होने से तथा आचार्य महाराज का निम्नोक्त वचन होने से " हंसविजयजी महाराज पाटण पधारेंगे तो मैं यहां चातुर्मास करूंगा। " आपने पाटण की ओर ही विहार किया।

विहार करते २ आप करीबन सवाडेढ महीने में पाटण पधारे और ज्येष्ठ शुक्ला २ को आचार्य महाराज के साथ आप का नगर में प्रवेश हुआ। सं. १९८४ की साल का चातुर्मास आप का आचार्य महाराज के साथ पाटण में हुआ। सं. १९८९ की साल का चातुर्मास

पूज्यपाद श्रीप्रवर्तकजी महाराज के साथ किया। इस चातुर्मास में आचार्य महाराज श्रीमद् विजयकमलसूरीश्वरजी के शिष्य श्रीनेमविजयजी को पंन्यास संपतविजयजी गणीद्वारा आपने भगवती वगैरा के योग करा कर गणि पदवी प्रदान की।

चातुर्मास के उपरान्त १९८६ का चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को मेत्राणा की यात्रा के लिये आपने विहार किया और चैत्र शुक्ला १५ के रोज वहांपर मेला था अतः महाराजसाहेब वहां विराजमान थे।

उस वक्त पालणपुर के संघ को खबर हुइ कि महाराजसाहेब मेत्राणा पधारे है, वो वहां के नगरशेठ श्रीयुत चमनलाल वगैरा श्रीसंघ के साथ मोटर में बैठकर वहांपर आप को विनंति करने के लिए आए। आपने पालणपुर के संघ की विनंति स्वीकार कर के पालणपुर पधारने का वचन दिया। संवत १९८६ के चैत्रकृष्ण ५ के रोज मेत्राणा में नेमविजयजी गणीको आपने पंन्यास श्रीसंपतविजयजी हस्तगत पंन्यासपदवी प्रदान कर वहां से विहार किया और पालणपुर पधार कर सं. १९८६ का चातुर्मास किया।

वहां पर "जैनयुग" में प्राचीन जैन तीर्थ रामसैन्य नामक लेख पढा, अतः चातुर्मास के बाद वहां की यात्रा

करने के लिये आपने प्राचीन तीर्थ तरफ विहार किया। उन दिनों में प्राचीन तीर्थ में पंन्यास कस्तूरविजयजी उपधान तप कराते थे। अंत में यात्रा का वरघोड़ा चाँदी का रथ और पांजरापोळ निमित्त थे तो तब पढ़ी हुई थी। महाराजसाहेब की आज्ञा से पंन्यासजी श्रीसंपतविजयजी के उपदेश और समझाने से आराम से मेल हुआ। अटक हुआ मालका वरघोड़ा चाँदी के रथ साथ निकला।

वहां से विहार कर के आप नवीन तीर्थ होते हुए मार्गशीर्ष शुक्ला १० के रोज रामसैन्य पधारे। महाराजसाहेबने "जैनयुग" में पढ़ा था कि सं. १०८४ की साल के प्रतिष्ठित काउसग्गिये किसी रामचन्द्रजी के मन्दिर में विराजमान है, अतः बावाजी को समस्त संघ के सामने कहा गया कि यह मूर्ति आप के तो किसी काम की है नहीं और हमारे ए देव है अतः हमें दे दीजिए। तब उन्होंने प्रतिमाजी को दिया और देरासर में स्थापित किया। यहां पर धर्मशाला की बहुत जरूरत है, क्यों कि जो यात्रा करने आते हैं वे स्थान के अभाव से तकलीफ उठाते है, अतः धर्मशाला के लिए आपने खूब उपदेश दिया उस की सफलता हुई।

वहां से विहार करके आप प्राचीन तीर्थ भीलडियाजी की यात्रा करने के लिए पधारे। यहां पोष वदि १० के रोज मेला होता है। उस दिन आसपासनिवासी

एक सेठ की नवकारसी थी। आप के उपदेश से उपर्युक्त शेठने धर्मशाला के लिए एक कोटडी का वचन दिया। यहां से आप जूना डीसा पधारे। यहां पर जीर्णोद्धार के लिये आप के उपदेश से मेमावाइने १९०० रु. देने का वचन दिया। जीर्णोद्धार के लिए जुना डीसा में एक कमेटी नियुक्त की गइ। संवत् १९८७ का चातुर्मास अपने नवीन डीसा में किया।

आप के उपदेश से जीर्णोद्धार के लिए काफी रकम इकट्ठी हुई और जीर्णोद्धार हुआ। संवत् १९८८ ज्येष्ट शुक्ला ६ को प्रतिष्ठा के लिये नवीन डीसा से विहार करके आप रामसैन्य पधारे, और प्रतिष्ठा करा कर आपने साथ ही साथ विजयानंदसूरीश्वरजी की मूर्ति भी स्थापन करवाइ।

इस प्रतिष्ठा का जल्सा खूब अच्छा रहा। प्रतिष्ठा पर नवीन डीसा के मुनसिफ नानालाला फौजदार, वकील वगेरा तथा अनेक गाम के लोक भी आये थे। प्रतिष्ठा कराकर आपने वहां से विहार किया और नवीन डीसा पधारे। १९८८ का चातुर्मास नवीन डीसा में हुआ।

चातुर्मास के पीछे माघ शुक्ला १० के रोज आप विहार कर के पाटन पधारे और फाल्गुन शुक्ला ५ को आपने नगर में प्रवेश किया।

और १९८९ का चातुर्मास पूज्यपाद प्रवर्तकजी महाराज के साथ किया।

अवश्यमेव भोक्तव्यम्, कृतम् कर्म शुभाशुभं।
न क्षीयते कृतं कर्म, कल्पकोटीशतैरपि ॥ १ ॥

असाता-वेदनी जीव मात्र के साथ लगी हुई है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, सार्वभौम राजा, राजेश्वर सब को अपने शुभाशुभ कर्मों का परिणाम सहना पडता है।

मनुष्य हरएक बात में अपनी चतुराइ, अपना बल-पराक्रम, अपना साहस चला सकता है, मगर काल के आगे किसी की पेश नहीं जाती। वेदनी कर्म के उदय से परम गुरुराज चारित्रनायक श्री हंसविजयजी महाराज को संवत १९८६ भाद्रवा सुदि १२ के दिन बुखार शुरू हुआ। आप की अस्वस्थता की खबर मिलते ही बंबइ, बडोदा, अहमदाबाद आदि ग्राम नगरो के भक्त श्रावक-श्राविका साता पुछने के लिये आने लगे। डाक्टर, वैद्य, चिकित्सक लोगोंने भी कुछ खामी न रखी, परन्तु "नकर्मणा कोऽप्यतिवर्तनीयः" दिनप्रतिदिन तबियत बिगडती चली गइ। पूज्यपाद प्रवर्तकजी महाराज भी एक कुशल वैद्य जैसे अनुभवी हैं, उन्हों भी शक्य उपाय किये। मोहनलालभाइ पाटन के वैद्यो में एक प्रसिद्ध वैद्य हैं। बडोदानिवासी वैद्यराज जमनादास चुनीलाल, बाडीलाल मगनलाल तो आप के

जन्मभर के ऋणी हैं। उन सबने शक्ति से ज्यादा उपाय किये, मगर तबियत न सुधरी; बल्कि दिनप्रतिदिन खराब होती गई। अफसोस है, सख्त अफसोस है कि इस लेखक का यह पूर्ण संकल्प था कि मैं चरित्रनायक की सेवा में कुच्छ अर्सो रह कर चरित्रनायक की जुबान से उन के जीवन की घटनाओं को सुन कर एक उत्तम जीवन-चरित्र लिखुं, जिस से कि इस महान विभूति के परम पूनित चरितामृतका प्रत्येक व्यक्ति आस्वादन करे। इस त्रिपथगा में प्रत्येक संतप्त शरीर शान्ति पाये, मगर किस की पेश चलती है ? बूटी की कोइ बूटी नहीं।

" बहा ले जायगा इक दिन,
यह दरियाये फना सब को॥
रुकावट आ नहीं सकती,
कभी इस की रवानी में॥ "

लेखक की आशा मन में ही रह गई। चरित्रनायक का इस सेवक पर अनेक प्रसंगो में असीम उपकार है। इस दास को चरित्रनायकने अनेक प्रसंगो पर सदुपदेशोद्वारा पावन किया है, अनेक प्रसंगो पर चारित्र में स्थिर कर के अपने ऋणों से दबाया है, अपनी सुदृष्टि से, सुचारु वाणी से, सुरक्षित प्रतिपालित किया है। इस खाकसार को — जीवन पर्यन्त अपने पुत्र के समान समझते रहे है।

आचार्य भगवान जन्माभिषेकपूत देवदेवेन्द्र-नरेन्द्र-पूजित-संसार-तारक श्री शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा कर के शेठ कालाभाई नगीनदास के उद्यापन प्रसंग पर सिर पालनपुर पधारे और अहमदाबाद के नगरशेठ की बार के आग्रहपूर्ण विनंति को मान दे कर अहमदाबाद पधारते हुए फिर पाटन पधारे। पूज्य चरित्रनायक की तबीयत दिनप्रतिदिन नाजुक होती हुइ देख कर बोले:—

'आप की इस हालत को देखते हुये हम अहमदाबाद जाना योग्य नहीं समझते।'

चरित्रनायकने फर्माया "नगरशेठ कइ दफे आप के पास आ चूके हैं। करीबन २ सब आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, पंन्यास आप के पधारने की राह देख रहे हैं। इस लिये मेरी तबियत नर्म होते हुए भी आपश्रीजी का अहमदाबाद पधारना उचित लगता है। आप खुशी से पधारो, आप का मनोरथ सफल हो।"

आचार्य महाराजने मौन कर लिया, आप को ऐसी परिस्थिति में छोड़ कर अहमदाबाद जाने की सर्वथा इच्छा न होते हुए भी आपके फर्मान को मान देकर पधारे।

आचार्य भगवान आपने सकल शिष्य मण्डल तथा प्रवर्तकजी महाराज चरित्रनायक आदि के शिष्यमण्डल को साथ लेकर नीचे उतरे। चरित्रनायकने बारी में खड़े हो

कर हाथ जोड़े हुए आचार्य भगवान को सस्नेह हस्ते घहेरे विहार कराया। आचार्य महाराज के कदम आगे बढ रहे थे, दृष्टि आप की तरफ थी। दोनों महापुरुषों का शरीर भिन्न था, अंतरात्मा एक था। शरीर से आचार्य भगवान विहार कर रहे थे, परन्तु मनोवृत्ति चरित्रनायक के पास थी। चारित्रनायक और आचार्यदेव के नेत्रों में जल भर रहा था। हृदय स्नेहपूर्ण था। कंठ गद्गद् था।

कौन जानता था कि चरित्रनायक यह अन्तिम दर्शन दे रहे हैं? यह सितारा अब छिप जायगा? यह कोहिनूर अब खोया जायगा?

यह राजमराल अब इस मानस-तट को सूना छोड़ कर देवभूमि की तरफ उड जायगा। किस को खबर थी कि यह प्रसन्नमुख, यह अमीभरे नेत्र, यह दिव्य आकृति अब सदा के लिये सब की आंखो से लुप्त हो जायगी? मनुष्य मात्र अल्पज्ञ है। इस को भविष्य का ज्ञान नहीं, वरना आचार्य भगवान पाटन से क्यों विहार करते? अपने आजीवन के स्नेह को चरित्रनायक की अन्तिम अवस्था में क्यों सफल न कर लेते? पूज्य प्रवर्तकजी महाराज स्वयम्भूरमण जैसे गम्भीर भी जानते हों कि यह हंस अब इस पंजर में नहीं रहने वाला, यह दिव्य-पक्षी अपने को छोड कर जानेवाला है।

श्रीसंघ को अगर यह जानता होता कि संसारभर में अद्वितीय प्रेम रखती हुई इस त्रिपुटी में से एक महापुरुष थोड़े ही दिनों में लोपनातीत होनेवाला है तो आचार्य भगवान को राजनगर जाने की सलाह न देते। बहुत ही अच्छा होता कि अन्तिम अवस्था में भी चरित्रनायक आचार्य भगवान के श्रीमुख से पंचपरमेष्ठी महामंत्र का श्रवण कर लेते।

ज्यादा अफसोस तो इस बात का है कि आजन्म का परम भक्त एक क्षणमात्र भी आप को छोड़कर एक कदम मात्र भी दूर न होनेवाले पंन्यासजी महाराज भी पांच-सात मिनिट के लिये आंखों से दूर हो गये और ऐसा पूर्वकाल में भी हुआ है। भगवान श्रीमन् महावीर परमात्मा भी जब निर्वाण को तैयार हुए तब उन के एकान्त भक्त प्रभु श्री गौतमस्वामीजी महाराज देवशर्म ब्राह्मण को धर्मोपदेश देने के लिये गये हुये थे। आते समय उन्होंने प्रभु के निर्वाण की बात देवताओं से सुनी। यहां घटना ऐसी बनी कि चरित्रनायक जब परलोकगमन की तैयारी में थे तब उन के शिष्यरत्न पूज्य पंन्यासजी महाराज श्री सम्मतविजयजी शौच (स्थंडिल) गये हुए थे। रमणिकविजयजी पास थे। चरित्रनायक श्री शौच जाकर पधारे। बलिहारी है, ऐसे पुन्यात्माओं की निर्वाणगमन के

क्षणभर प्रथम भी स्थंडिल से चाकर आप बैठे [illegible]
यही पडीकामी, कटिवस्त्र, चोलपट्टक [illegible]
बस, फिर उठ नहीं पाये! यह बार ही [illegible]
भी एक पांच मिनिट में आप का आत्मा [illegible]
भक्तजनों को दुःखसागर में [illegible]
१९९० का फाल्गुन शुदि १० गुरुवार के [illegible]
हो गये।

संघ में बिजली के वेग से यह समाचार फैल गया। पाटन के श्रीसंघने अपना शिष्टाचार किया। जहाँ २ खबरें पहुंची, अति शोक फैल गया। अनेक [illegible] अनेक इष्ट वस्तुयें अपने भोग में से त्याग दीं। इस लेखक को जो दुःख हुआ सो वचन [illegible] है। शोक-संतप्त इस आत्मा को अनेक सज्जनोंने यथाशक्ति समझाकर दूसरे दिन आहारपानी कराया। ऐसे ही जिन २ भक्तजनोंने आप के एक दफा भी दर्शन किये होंगे, उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ होगा।

आखिर सबने संतोष का अवलम्बन लिया, क्योंकि वीर परमात्मा के वचन है कि

' चलाचलेऽस्मिन् संसारे [illegible] एकोऽहि ।"

शासनदेव पंन्यासजी महाराजश्री सम्पतविजयजी को तथा उन के कदमों पर चलनेवाले गुरुभक्त शिष्य को सदा शान्ति प्रदान करें, एवं इस समुदाय में अनेक ऐसे नरवीरों को पैदा करे और चिरस्थायी रखें।

ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

श्री श्रमणसंघस्य शान्तिर्भवतु

निवेदक,

श्रीमद्बुद्धिविजयवृद्धभट्टारीश्वरचरणोपासक सेवक

पंन्यास ललितविजय गणी

मु० तखतगढ (मारवाड)



पुस्तक परिचय.

उपाध्यायजी महाराज श्रीमद् वाचक सूरचन्द्रगणि खरतरगच्छीय बृहत् शाखा में हुए थे* । उन का एक समय कोइ शैल संप्रदायी जिज्ञासु के साथ मेला हुआ। उस जिज्ञासुने आत्मा, कर्म, मोक्ष वगैरह आध्यात्मिक विषय के अनेक प्रश्न पूछे, उन सब प्रश्नो के उत्तर उपाध्यायजी महाराजने व्यवहारप्रसिद्ध लौकिकोक्तिसे सरलतापूर्वक तात्कालिक दिये। बाद इस प्रश्नोत्तररूप ग्रन्थ बनाया। सम्मतितर्क, तत्त्वार्थसूत्र, कर्मप्रकृति और योगशास्त्रादि महान् ग्रन्थो में जिन महाशयो का चंचुप्रवेश न हो सकता हो ऐसे सामान्य मनुष्यों को भी तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जाय, ऐसी भावदया स्फुरायमान होने से पंजाब में आये हुए अमरसर (शीख धर्मका पवित्र धाम) शहर में संवत् १६७९ का

* जेसलमेर भंडार संस्थापक—श्री जिनभद्रसूरिजी महाराज के शिष्य मेरुसुंदर पाठक, इन के शिष्य हर्षविजय पाठक, उन के शिष्य चारित्र—उदय वाचक, उनके शिष्य वीरकलश, धीरकलश के शिष्य वाचक सुरचन्द्रगणि और ग्रन्थसहायक पद्मवल्लभगणि ।

आश्विन शुक्ल पूर्णिमा बुधवार विजय योग में
अधिकार में यह ग्रन्थ संपूर्ण किया है। ग्रन्थकारने इस ग्रन्थ के तीन नाम रक्खे है–जैन तत्त्वसार, जीवकर्मविचार और सूरचन्द्रमनः स्थिरीकरण। प्रथम दो के नाम के अर्थ स्पष्ट ज्ञात हो जाय ऐसे है। तीसरा नाम में कर्ता के नामनिर्देश के साथ अध्यात्म संबन्ध विशेष प्रकार से व्यञ्जित होता है। सूर–सूर्यनाडी, चन्द्र–चन्द्रनाडी और मनः–मध्य सुषुम्णा नाडी, जिस में वायु का संचार करने से मनकी स्थिरता होती है, उनका स्थिरीकार यानि सूर्यादि नाडीयों की स्थिरता। अथवा सूरचन्द्र और दूसरे का मन की स्थिरता के लिये यह ग्रन्थ–रचना की है। कहा है कि "योग्यस्य हेतुर्मनः समाधिः" यानि मन की समाधि वही योग–अध्यात्म का हेतु होनेसे यह ग्रन्थ भी अध्यात्म शास्त्र का (द्रव्यानुयोग) कह सकते है।

आज दिन तक इस ग्रन्थकी प्रति कोइ भंडार देखने में नहीं आई तथापि संघ के पुण्योदय से संस्कृत टीकावाली एक प्रति कोई श्रावक के पास से तपागच्छाधिपति स्वर्गस्थ आचार्यदेव १००८ श्रीमान् विजयानन्दसूरिजी (आत्मारामजी) महाराज के शिष्य प्राचीन साहित्योद्धारक और संग्राहक प्रवर्तकजी महाराज १००८ श्रीमान् कान्तिविजयजी महाराज को भेट मिली। (सच पूछो तो उस को कचराकी से हस्तगत हुइ)

विक्रम सं. १९६२ की साल में वडोदानिवासी साहित्योद्धारक विद्वद्रत्न स्वर्गस्थ वैद्यराज मगनलाल चुनीलाल को छाणी शहर में प्रवर्तकजी महाराज का दर्शन का लाभ मिला। संत समागम से यह अमूल्य तात्विक ग्रन्थ देखने का मोका मिला। इस युक्तिवाद के जमाने में इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया जाय तो ग्रन्थकर्ता का परिश्रम और उद्देश सफल होने के साथ समाज में जैन दर्शन संबन्धी फैला हुआ अज्ञानतिमिरका किंचिद् अंश से नाश हो जाय, ऐसा संकल्प होने से और ज्ञानभक्ति जागृत होने से फौरन अपने ही हाथ से वैद्यराजने इस ग्रन्थ की कोपी की और अपने अनेक व्यवसायों को तिलांजलि दे कर हरी वनस्पति की त्यागरूप बाह्य और आभ्यन्तर तप के प्रभाव से, छ मास के सतत परिश्रम से और दूसरी प्रति अलभ्य होने के कारण अपनी ही कोपी परसे ग्रन्थ और टीका का संशोधन तथा गुजराती अनुवाद का दुर्घट कार्य संपूर्ण किया और ग्रन्थ गुरुदेव को अर्पण किया और भावनगरस्थ श्री आत्मानंद सभाद्वारा प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ प्रकाशित होते ही जैन-जैनेतर साक्षरोंने और अखबारोंने भूरि भूरि प्रशंसा कि। संस्कृत अभ्यासीओ को मूल ग्रन्थ और सामान्य जैन समूह का गुजराती अनुवाद जिन्होंने दुर्भाग्यवशात् यह ग्रन्थ न देखा हो उनको खास देखना का अनुरोध करते है। इस ग्रन्थ का संशोधन और

अनुवाद, यह वैद्यराज के जीवन का साहित्य संबन्धी अन्तिम कार्य है। वैद्यराज आयुर्वेद शास्त्र में पारंगत होने पर भी और अपनी सात पेढी के वंशपरंपरागत व्यवसायमें लक्ष्य न दे कर उन्होंने साहित्यसेवा में और तत्सबन्धी ज्ञानमंदिर, पाठशाळादि संस्थाओ के और संचालक बनकर अपना जीवन व्यतीत किया। दानवीर स्वर्गस्थ शेठ मनसुखभाई भगुभाई के तर्फ से ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य शुरू हुआ। उस का उत्पादक भी वैद्यराज ही थे। शेठ साहब और वैद्यराज की तो आंतरिक अभिलाषा ऐसी थी कि ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य बडे जोरशोर से चालु रक्खा जाय, मगर दुर्भाग्यवशात् दोनों का थोडे ही काल में अवसान हुआ और यह शुभ कामना परिपूर्ण न हुई। वैद्यराजने कुमारपाल प्रबन्ध का भाषान्तर कर के गुर्जरनरेश सर सयाजीराव महाराज को जैन साहित्य के खजानेमें से एक रत्न अर्पण किया, और गुर्जराधिपति को यह खजाना हस्तगत करने की तमन्ना वैद्यराजने ही प्रथम लगाई, और तबसे गुर्जरनरेश मार्फत अनेक ग्रन्थरत्न प्रकाशित हो रहे हैं।×

× कुमारपाल प्रबन्ध के भाषान्तर से हर्षित हो क सरकार सर सयाजीराव महाराजने वैद्यराज को रूपि पारितोषिक दिये थे। साहित्यसेवक वैद्यराजने य

इस ग्रन्थ को हमारे श्री यशोविजयजी जैन गुरुकुल में अंग्रेज़ी पाँचवाँ और छठा धोरण में पढते हुए विद्यार्थीओं के धार्मिक कॉर्स की सीरीज़ में धार्मिक समितिने दाखिल किया था, मगर इस ग्रन्थ का भाषान्तर विद्यार्थीओं के लिये कुछ विस्तृत लगने सें और विशेष सरलता तथा रुचि जागृत करने के आशय से, जैन तत्त्वसार का प्रश्नोत्तर रूप में सारांश, और भूमिका रूप में जैन दर्शन की महत्तादर्शक थोडासा दिग्दर्शन–समभाव, अहिंसा, स्याद्वाद, विज्ञान वगैरह विगैरह विषयक अंदाज चालीस पृष्ठ गुजराती में तैयार किये, और आचार्यजी महाराज १००८ श्रीमान् विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज के शिष्यरत्न–आचार्य श्री विजयोदयसूरिजी महाराज को वंचाये। उन्होने जैन शैलिके अनुकूल कोई कोई स्थल पर सुधार देनेकी कृपा की है।

मैंने इस ग्रन्थ में वास्तविक रीति से भाषा और शब्द-रचना के फेरफार सिवाय कुछ भी महत्त्व का फेरफार नहिं

रकम अपने पास न रक्खी। उन्होंने यह रकम और अपने पूज्य पिताजी वैद्यराज चुनीलाल के पास से ३०००) रुपिये ला कर श्री आत्माराम जैन ज्ञानमन्दिर की स्थापना में करके ज्ञानपूजन किया था।

किया है । इस ग्रन्थका गौरव और महत्ता का सब मान इसका कर्त्ता महात्मा वाचकजी महाराज और अनुवाद कर्त्ता वैद्यराज को ही घटता है । मेरा तो असल पुस्तक परसे फक्त प्रयोजक बनने का ही हिस्सा है ।

केलवणी विषय में निष्णात रिटायर्ड जज और धर्म शास्त्र में अच्छे निपुण श्रीयुत सुरचन्द पी. बदामी जैसे साक्षरों के अभिप्रायो से, और अल्प समय में ही जैन समाजने इसकी दोनों आवृत्तिओंकी (एक) हजार कापीयाँ मँगवा लेनेसे प्रयोजक रूपसे मेरा परिश्रम सफल हुआ देख कर सचमुच मैं अत्यानंद मग्न हुआ हुं ।

गुजराती भाषा का प्रचार केवल महागुजरात में है, किन्तु उसके सिवाय भी राजपुताना, बंगाल, बिहार, पंजाब, वगैरह देशों में बसते हुए जैन–जैनेतर भाईयों भी लाभ ले सकें इसके लिये हिन्दी भाषा में प्रकाशन की आवश्यक्ता संबन्धी का सूचन जैन पत्र के तंत्री श्रीयुत् शेठ देवचंदभाई और कतिपय जिज्ञासु बन्धुओं की तर्फसे होनेसे हिन्दी भाषा में प्रथमावृत्ति श्री जिनदत्तसूरिज्ञानभंडार तर्फसे प्रकाशित करने में आई थी । मगर उस आवृत्तिकी भी बहुत सी कापीयाँ खलास होने आई, तथापि जिज्ञासु की माँग ऐसी ही चालु रही जिससे द्वितीयावृत्ति की जाय तो इस ग्रंथ–रत्न से वंचित

रहे हुए भाईयों और बहेनों, तथा राजपुताना, पंजाब वगैरह देशों में आये हुए अपने जैन गुरुकुलों के विद्यार्थीओं लाभ ले सकें, इस उद्देश को लक्ष्य में रख कर, चैत्र शुक्ला पूर्णिमा की श्री सिद्धाचलजी की यात्रार्थ पधारे हुए वैद्यराज वाडीलाल मगनलाल के साथ इस विषयकी बातचीत हुई। इसका शुभ परिणाम यह आया कि वैद्यराजके प्रयाससे श्री हंसविजयजी जैन फ्री लाईब्रेरी–बडोदा की तर्फ से मुद्रित करने का प्रबन्ध किया गया और अच्छे रंग–ढंगके साथ मुद्रण–कार्य हुआ है। आशा है कि इस ग्रन्थ को गुरुकुल के संचालक महाशयों विद्यार्थीओं के धार्मिक कॉर्स में, और जिज्ञासु गृहस्थ भाईयों अपनी गृह–ग्रामादि लायब्रेरी में दाखिल करके प्रकाशक संस्था के कार्यवाहकों का परिश्रम सफल करेंगे।

ऐसे पुनित ग्रन्थ–रत्न के प्रचारकार्थ में प्रोत्साहित करनेवाले लायब्रेरी के संचालक महाशयों अभिनन्दनीय हैं।

इस हिन्दी आवृत्ति में समभाव पर श्री पार्श्वनाथ स्वामी और कमठ तापस, क्षमाशीलता पर श्री गजसुकुमार और स्याद्वाद सिद्धान्त के रहस्यसूचक हाथी, प्रज्ञावंत महाव्रत तथा पाँच अंधे का दृश्य दिखानेवाले चित्रों

विशेष हर्ष का विषय तो यह है कि इस ग्रन्थ का अनुवाद करनेवाले महाशयजी का गृहस्थावस्था का मामा और आराध्य गुरुदेव सद्गत शान्तमूर्ति आदर्श मुनिपुंगव १००८ श्रीमान् हंसविजयजी महाराज साहबको यह ग्रन्थ समर्पण किया है।

हंससम निर्मल महात्मा श्री हंसविजयजी महाराज साहब का जीवनचरित्र भी इस ग्रन्थ में दिया गया है। जिसको वांच कर मुमुक्षु वर्गको आदर्श साधुजीवन की झांखी होनेका अवकाश है। ॐ शान्तिः ३।

प्रयोजक

शंकरलाल



श्री जैन तत्त्वसार सारांश



[प्रथम विभाग]



:: जैनदर्शन सम्बन्धी किञ्चिद्वक्तव्य ::



—: उन की विशालता और गौरव :—

विश्ववंद्य जैनसिद्धान्तों का दिग्दर्शनः—

जैनधर्म के मुख्य २ सिद्धान्त यानि मंतव्य जो कि जगत्‌भरमें तत्वज्ञों को, उन के अभिलाषीओं को और खास कर के सर्व दर्शनो को मान्य हो सके ऐसे हैं। यही उन की विशालता और गौरव है। जैनधर्म के अटल अभ्यासी प्रोफेसर हर्मन जेकोबी महाशय कहते हैं कि—

" जैनदर्शन वास्तवमें प्राचीन विचारश्रेणी है। अन्यान्य दर्शनों से बीलकुल भिन्न और स्वतंत्र दर्शन है। इसी लिये जैनदर्शन उन के लिये तो खास आवश्यकीय है जो प्राचीन हिन्दुस्थान के तत्त्वज्ञान संबन्धी विचार और धार्मिक जीवन के अभ्यासी हैं। "

प्रो० हर्मन जेकोबीने जैनतत्त्वज्ञान संबन्धी जो लेख लिखा है वह हमने 'बुद्धिप्रभा' मासिक के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक में प्रगट किया है। उपरोक्त विचार उसी लेख से दर्शाया गया है। अतः वास्तव में देखा जाय तो जैनदर्शन एक स्वतंत्र दर्शन है, बौद्धधर्म की अथवा अन्य कोई भी धर्म की शाखा नहीं है। इतना ही नहीं परन्तु नविन-कल्पित मत भी नहीं है। (इस विषयमें भी प्रो० हर्मन जेकोबीने उस लेखमें खूब समर्थन किया है) परन्तु वह सनातन सत्य है जो कि अनादि-काल से चला आ रहा है। और मुमुक्षुओंको भी अतिशय हितावह है।

जैनदर्शन की महत्ताः—

जैनदर्शन की महत्ता के संबंधमें डॉ. ओ. परटोल्डेने " धर्म के तुलनात्मक शास्त्रोंमें जैनधर्म का स्थान और महत्त्व " इस विषय पर ता. २१-९-३१ के दिन अपने व्याख्यानमें कहा कि-यदि संक्षेपसे कहा जाय तो श्रेष्ठ धर्मतत्त्व और ज्ञान पद्धति ये दोनों दृष्टि से जैनधर्म, एक तुलनात्मक शास्त्रों में आगे बढ़ा हुआ धर्म है। द्रव्यों के ज्ञान संपादन

करने के लिये जैनदर्शनमें स्याद्वादधर्म का आधुनिक पद्धति से एसा निरुपण किया गया है कि जिन को मात्र एक वस्तु द्रष्टि-गोचर करना ही काफी है।

" जैनधर्म यह धर्मविचार की निःसंशय परमश्रेणी है और उस द्रष्टि से केवल धर्म का वर्गीकरण (पृथक्करण) करने के लिये नहीं; परन्तु विशेषतः धर्म के लक्षण नियुक्त करने के लिये और तदनुसार सामान्यतः धर्म की उत्पत्ति जानने के लिये उन का खूब मननपूर्वक अभ्यास करना आवश्यक है। "

जैनधर्म का मन्तव्यः—

जैन शब्द की उत्पत्ति इस तरह हो सकती है [illegible] यानि जि धातु का अर्थ जय प्राप्त करना-विजय [illegible] होता है। अर्थात् जैन शब्द का अर्थ जितनेवाला या [illegible] होता है। यदि विस्तार से अर्थ किया जाय तो [illegible] अर्थ पांच इन्द्रियाँ और चार कषाय [illegible] जितनेवाला, माया का उन्मूलन [illegible] करनेवाला, मैं और मेरा यह मोहजन्य [illegible] रहनेवाला होता है। जैनधर्म में [illegible] भोग-विलास का स्थान नहीं है [illegible] रस का पोषक है। [illegible] हमेशां दूर ही रहता है। [illegible] माने गये है यह मोहराज के [illegible] हमेशां

भवपाश से पराङ्मुख आत्मा को विषयादि नानाविध पाशों से जकड़ लेता है। परिणाम यह आता है कि इस भवसागरमें आत्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है। देखियेः–पतंग, भ्रमर, मत्स्य, हस्ती और हरिन एक २ इन्द्रियजन्य दोष से दुःख पाते हैं तो जो प्राणी पांचों इन्द्रियों के विषयमें आसक्त रहते हैं वह कौनसा दुःख नहीं पाता है ? अतः आत्महितैषी जनों को चाहिये कि–जैनधर्म का वास्तविक स्वरूप विचारे और आत्मसन्मुख होने के लिये पांचों इन्द्रियजन्य विषयों को पराजित करें। मतलब कि आत्मभावमें हमेशो जागृत रहना यही जैनधर्म का खास मंतव्य है।

जैनधर्म यह सनातन सत्य है :

जैनधर्म का अस्तित्व अनादि काल से चला आ रहा है। प्राचीन मे प्राचीन धर्म जो कोई है तो यह जैनधर्म है। नीचे लिखी हुई बातों से यह बात स्पष्ट समजी जा सकती है। बुद्धदेव के पहिले बौद्धधर्म का अस्तित्व न था, क्राइस्ट के पहिले क्रिश्चियन धर्म की उत्पत्ति न थी। पयगंबरने मुस्लिम धर्म की स्थापना की इस तरह जैन धर्म किसी पुरुष का स्थापित धर्म नहीं है। तीर्थंकर भगवानों की कई चोवि-शीयां व्यतित हो चूकी परन्तु जैनधर्म के साथ किसी तीर्थंकर का नाम नहीं जोडा गया। क्यों कि जैन धर्म सनातन सत्य है। महान् तीर्थंकरादि भी धर्म के प्ररूपक कहलाते हैं–धर्म के ..। कारण कि यह अनादिकाल से चला आ रहा

है और दूसरी बात यह कि जो सनातन सत्य है उनका कोई स्थापक नहीं हो सक्ता अन्यथा वह सनातन सत्य कहलाने के योग्य नहीं। मोक्ष मार्ग न तो कभी बंध हुआ और न होने-वाला है, उसी तरह भव्य-शून्य कभी न हुआ और न होने संसार का है। यह दोनों बातें हमेशां शाश्वती मानी गई है, उसी तरह इस जगत में सत्य भाव और असत्य भाव, सत्य विचार-श्रेणी और असत्य विचारश्रेणी यह भी शाश्वती ही है। जैन-धर्म वह सत्य विचारश्रेणी का पोषक है। इसी कारण जैन-धर्म वो है जो अनादिकाल से चला आ रहा है। यही कारण है कि प्रो० हर्मन जेकोबी जैसे महान् समर्थ विद्वानों को भी कहना पड़ा कि " जैन दर्शन एक प्राचीन से प्राचीन विचारश्रेणी है और वह स्वतंत्र दर्शन है। वास्तवमें यह कथन सत्य भी इस लिये है कि जैन धर्म की प्राचीनता ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध हो चूकी है। स्व० योगनिष्ठ, शास्त्र विशारद, जैनाचार्यश्री बुद्धि-सागरसूरीश्वरजी महाराजने अपने तत्त्वज्ञान दीपिका नामक ग्रंथमें जैनधर्म विषयक एक विस्तृत उल्लेख किया है जिन का संक्षिप्त सार इस प्रकार है:—" श्री कल्पसूत्र के आधार से माना जाय तो जैन धर्म के प्रणेता चौविश तीर्थंकर भगवान है। उनमें श्री प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभदेव को हुए कई सागरोपम वर्ष हो गूजरे है यानि जैन धर्म के प्ररूपक श्री ऋषभदेव भगवान को हुए असंख्य वर्ष व्यतित हो चूके हैं। इसी से यह बात निःशंक सिद्ध है कि सर्व धर्मों की अपेक्षा जैनधर्म प्राचीनतम धर्म है।

योगवाशिष्ठ नामक अन्य दर्शनीय ग्रंथ से आ
जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। वेद के उप
रचनेवाले यास्काचार्य थे। उन्होंने कई जगह
करण के प्रयोग उध्धृत किये है। यह शाकटायन आ
धर्मी थे और उनके प्रयोगों से मालुम पडता है कि
चार्य के पहिले हुए हैं। और जैनधर्म भी उनके पू
में मोजूद था। वेदादि ग्रंथो में भी ऋषभ तथा
क्रमश: प्रथम और बाइसवें तीर्थंकर के नाम दृष्टिगो
है उस से भी यह बात स्पष्ट है कि वेदों के पूर्व जै
अस्तित्व था। शब्द के अनेक अर्थ होते है परन्तु
ऋषभ और अरिष्टनेमि शब्द का वास्तविक रुढार्थ को छो
अन्य अर्थ करे तो भी उनका जो वास्तविक रुढ अर्थ है
कदापि गुम नहीं रह सक्ता। लॉर्ड कनिंगहाम के
मथुरा का टीला (टेकरी) खोदने से जैनों का प्राचीन
निकला जिन के उपर के लेख से जैनधर्म की प्राचीनता
होती है। युरोपीयन पंडित मेक्समूलर कहते हैं कि वेद धर्म
सूत्रों का रचनाकाल करीब तीन हजार वर्ष का कहा जा सक
है। उपरोक्त दलीलों से यह निश्चय होता है कि जैनध
प्राचीन से प्राचीन धर्म है। जैसी उनके शब्द पर से सनातन
सत्यता सिद्ध होती है वैसी ऐतिहासिक दृष्टिसे भी उनकी
सनातन सत्यता पुरवार हो सक्ती है।
जैनधर्म विश्वमें मुख्य धर्म है :

आर्यावर्त्तमें अन्य धर्मों की अपेक्षा वेदान्त धर्म

प्राचीनतम गिना जाता है । और उन का अर्थ
उत्कृष्ट ज्ञान " ऐसा होता है । यहां विचार करना आव-
क है कि जगतमें उत्कृष्ट ज्ञान किस से प्राप्त होता है ?
ष्य जब माया का नाश करता है–अविद्या को दूर करता है
ही उत्कृष्ट ज्ञान यानि कैवल्यज्ञान प्राप्त होता है । यह
धी–सादी बात सब कोई समज सक्ते है । इस से इतना तो
पष्ट है कि जैनधर्म कैवल्यज्ञान का कारण है तो वेदान्त-
ं उनका कार्य है । कारण कि—" कारणं विना कार्यं
पद्यन्ते " मतलब कि कारण विना कार्य की उत्पत्ति हो नहीं
ती और कार्य–कारण में कारण की मुख्यता रहती है ।
शब्द भी कारणवाचक है । उदाहरणार्थ—" जीवननिर्वा-
ै भोजन करना यह धर्म है " परन्तु भोजनार्थ जीना यह
नहीं है क्यों कि भोजन करना यह कार्य है । इस तरह
शब्द को भी कारणवाचक शब्द के साथ लगा सक्ते हैं ।
से यह स्पष्ट है कि–जैनधर्म विश्वमें मुख्य धर्म है ।

नधरमें समस्त दर्शनों का समावेशः*

* " षड्दर्शन जिन अंग भणीजे " इस वाक्यपर से भद्रिक आत्माओं
फसाने में दुरुपयोग न हो, अतः उन का वास्तविक रहस्य यहां
शित किया जाता है: वह यह कि–शरीर का अमुक भाग–हाथ या
गुली आदि अङ्ग जब तक शरीर के साथ अपनी वास्तविक फर्ज
ता है–अंगरुप है; परन्तु जब वह सापेक्ष मिट कर दूरपेक्ष अपेक्षामें
ा है अर्थात् वह अङ्ग सड़ कर ऑपरेशन के योग्य बनता है तब
सड़ा हुआ भाग को काट कर दूर किया जाता है । उस

अपने आर्यावर्त्तमें यानि भारतवर्षमें मुख्यतः सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, नैयायिक, बौध, मिमांसक, लोकायतिक-चार्वाकादि दर्शनों के विचारों एक-दूसरे के निरपेक्षभावसे उत्पन्न हुए है। जब कि जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिनमें सर्व नयों की सापेक्षता का संपूर्ण ध्येय द्रष्टि सन्मुख रखा गया है। अथवा यों कहिये कि जैनदर्शनरूप समुद्र में सर्व नयरुपी तटिनी (नदीयां) अन्तर्भाव को प्राप्त होती है। जैन सिद्धान्त के पारंगत षड्दर्शनवेत्ता अलख अवधूत योगी श्रीमद् आनंदघनजी महाराज-जो कि बहुधा अरण्यमें ही निवास करते थे-श्री नेमिनाथ प्रभु के स्तवन में कहते हैं कि—

"जिनवरमां सघळां दर्शन छे,
दर्शने जिनवर भजना रे;
सागरमां सघळी तटिनी सही,
तटिनीमां सागर भजना रे ॥ १ ॥

भावार्थः—श्री नेमीश्वर प्रभु के दर्शनमें-जैनदर्शनमें सर्व दर्शनों का समावेश हो जाता है अतः वे सब दर्शनों प्रभु के अंग हैं। भिन्न २ एक २ अन्य दर्शनमें सर्वांगी सत्ता द्रष्टिगोचर नहीं होती अर्थात् एकांगी सत्ता होने के कारण ही सदंशे जिनवर भजना कही है। जैसे समुद्र में सर्व नदीयों

यह काटा हुआ अन्न वास्तवमें अन्नरूप नहीं माना जाता उसी तरह सर्व नय-विचार जब तक सापेक्षभाव से परस्पर वर्तते हैं तब तक वे अन्न है।
(विजयोदयसूरिजी)

निश्चय से है; परन्तु नदीयामें समुद्र की भजना अंशे है यानि समुद्र की वेल का पानी जिस नदीमें जाता है उस द्रष्टि से नदीमें समुद्र एकदेश से संभवित है।

इस तरह समुद्रोपमा से अन्यान्य दर्शन भी अंशतः जिनवर के ही अंग माने गये हैं। संक्षेप में कहा जाय तो जैनदर्शन के सिवाय जितने अन्य दर्शन हैं वे सब अंशतः सत्य का प्रतिपादन करनेवाले हैं जब जैनदर्शन संपूर्ण सत्य का प्रकाश करता है। यह स्तवन, जैनदर्शन की संपूर्णता और सत्यता दर्शाने के साथ साथ समस्त दर्शनानुयायीयों के साथ सहकार साधने की भी भावना प्रेरता है।

सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों की क्या २ मान्यता है और वे सब दर्शनें जिनदर्शनमें किस तरह अंतर्भूत होते हैं ? इस बात को जानने के अभिलाषुकों को चाहिये कि वे श्रीमद् आनंदघनजी महाराजकृत श्री नेमीश्वरप्रभु का स्तवन खूब मननपूर्वक सार्थ पढे और विचारे।

जैनों का स्याद्वाद सिद्धान्त :

जैनदर्शन के अनेक सिद्धान्त हैं जिन में स्याद्वाद भी उन का एक परम सिद्धान्त है। स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद भी है। भिन्न २ मताभिलाषीओं के दृष्टिबिन्दु समजने में अनेकान्तवाद जितनी सहाय करता है उतनी एकान्तवाद नहीं कर सकता। स्याद्वाद को कोई ' संशय ' वाद न समझे। क्यों कि संशयवाद तो कहा जाता है कि कोई भी एक वस्तु का

चोकस निर्णय नहीं किया जा सके। स्याद्वाद की व्याख्या इस तरह की गई है:—

'एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध नाना धर्म स्वीकारो हि स्याद्वादः'

अर्थ:—एक ही पदार्थमें अपेक्षापूर्वक विरुद्ध नाना प्रकार के धर्मों का स्वीकार करना उनको स्याद्वाद–अनेकान्तवाद कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनंता धर्म रहे हुए हैं, वस्तुमात्र को जैसे २ दृष्टिबिंदु से देखा जाय वैसा ही उन का स्वरुप नजर आता है। उदाहरणार्थ रेत को लिजिये: यद्यपि वजन की अपेक्षा से रेतमें भारीपना विशेष है परन्तु लोखंड (लोहा) की रज की अपेक्षा से विचार किया जाय तो उनसे रेत वास्तवमें हलकी ही मालुम पडेगी। इसी तरह विचार करनेसे स्पष्ट मालुम होता है कि मनुष्यमें भी अनेक धर्म रहे हुए हैं। ए‍ ही मनुष्य पिता है, पुत्र है, भतीजा है, चाचा है, मामा है और भानजा भी है। परस्पर विरुद्ध होने पर भी ये सब ध‍ एक ही व्यक्ति में पाये जाते है। और वे सब ही सिद्ध होते जब अपेक्षादृष्टि से उनका विचार किया जाय। मतलब कि पुत्र की अपेक्षा वह पिता है, पिता की अपेक्षा वह पुत्र है चाचा की अपेक्षा भतिजा और भतिजा की अपेक्षा चाच‍ भानजा की अपेक्षा मामा और मामा की अपेक्षा भानजा, इ‍ तरह परस्पर विरुद्ध धर्म भी अपेक्षा दृष्टि से देखने से ही एक व्यक्तिमें पाये जाते हैं, और स्याद्वाद सिद्धान्त ही वस्तुमात्र

अनेक दृष्टिबिंदु से देखने की शिक्षा देता है। परिणाम यह आता है कि वस्तुमात्र का सत्य स्वरुप उनकी नजर के सामने खडा होता है और जगत के समस्त पदार्थोंमें यानि आकाश से ले कर दीपक पर्यन्त अपने देख सक्ते हैं कि सापेक्ष रीति से नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि अनेक धर्म उनमें रहे हुए हैं।

इस तरह सापेक्ष दृष्टिसे देखा जाय तो तमाम वस्तुओं में अनेक धर्म रहे हुए हैं। श्रीमद् उमास्वाति वाचकने द्रव्य का लक्षण " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् "—उत्पाद (उत्पन्न होना) व्यय (नाश होना) ध्रौव्य (स्थिर रहना) यह लक्षण बताया है। और कोई भी द्रव्य के लिये यह लक्षण निर्दोष माना गया है। इस लक्षण को जीव द्रव्य पर स्याद्वाद दृष्टि से घटाना उपयुक्त होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मद्रव्य नित्य है, परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मद्रव्यको अनित्य भी मानना पडता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य जब एक गति को छोड कर अन्य गति को प्राप्त करता है तब मनुष्य पर्याय का नाश होता है और अन्य गति के पर्याय की उत्पत्ति होती है; परन्तु दोनों गतिमें चैतन्य धर्म तो स्थायी रहता है। अतः आत्मामें कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व का स्वीकार अवश्य करना पडता है। इसी तरह जड पदार्थ का भी उदाहरण लीजियेः सुवर्ण के कुंडल को तोड कर एक हार बनवाया, तो उनमें कुंडल के जो पर्याय थे उन का नाश हुआ और हार के पर्याय की उत्पत्ति हुई। दोनोंमें मूल

वस्तु सुवर्ण था वह तो ज्यों का त्यों कायम है। इस से यह बात स्पष्ट हुई कि प्रत्येक वस्तु में कथंचित नित्यत्व और कथंचित अनित्यत्वरूप स्याद्वाद धर्म रहा हुआ है।

एकान्त नित्य उस को कहते हैं कि कोई भी वस्तु सदाकाल एक ही रूप में यानि पूर्ववत् कायम रहे। एकान्त अनित्य वो है कि टूटने-फूटने से जिस वस्तु का सर्वनाश हो जाय, उनका एक अंश भी दूसरी वस्तुमें न मिल जाय इस तरह उपर लिखे माफिक तमाम पदार्थोंमें नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि अनेक धर्म रहे हुए। उन धर्मों को सापेक्षदृष्टि से देखना उन्हीं का नाम स्याद्वाद है।

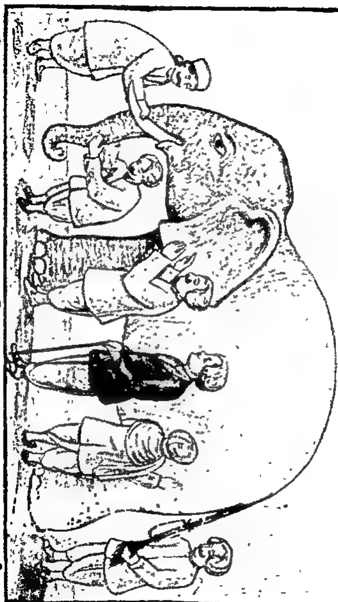
स्याद्वाद का जो सिद्धान्त है उनका वास्तविक स्वरूप विचारा जाय तो वह एक जबरदस्त और विश्वमान्य सिद्धान्त है एसा निःशंक और निर्विवाद कह सक्ते है। यह अनेकान्तवादमें सत्य और अहिंसा उभय का समावेश होता है। समस्त विश्व का यथार्थ स्वरूप अवलोकन करने के लिये स्याद्वाद यह दिव्यचक्षु समान है। उनको यथार्थ रूपमें नहीं समझने से ही अनेक मत मतान्तर और क्लेशों की उत्पत्ति हुई है एवं वर्त्तमानमें भी हो रहा है। परन्तु उनका यथार्थ स्वरूप समझने से अज्ञानता और मताभिमान का नाश होता है। देहशुद्धि के लिये जितनी स्नान की आवश्यकता है उस से भी अधिक जरुरत है विचारशुद्धि के लिये स्याद्वाद की।

कोई भी वस्तु उन के विविध दृष्टिबिन्दु से देखी जाय तो

घन के वास्तविक सत्य की तुलना हो सक्ती है। अतः उस से किसी भी प्रकार के कलह को अवकाश नहीं रहता है। समस्त जगतमें स्याद्वाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो सुलेह साम्राज्य की स्थापना कर सक्ता है। इसी कारण उन का यथार्थतया ज्ञान संपादन करने की सब से प्रथम आवश्यक्ता है। श्रमण भगवान महावीर के समयमें एक तर्फ वेदान्त दर्शन एकान्त नित्य धर्म की उद्घोषणा कर रहा था, जब दूसरी ओर बौद्ध दर्शन अनित्य (क्षणिक) वाद की प्ररुपणा कर अपना विस्तार बढा रहा था। परिणाम यह आया कि इस से परस्पर वैमनस्य की भावना उमड उठी और वह भावना तब ही शांत हुई कि जब भगवान महावीर के नित्यानित्यरुप स्याद्वाद धर्म का जल छिड का गया। खास लाभ तो यह हुआ कि न्यायप्रीय सत्वज्ञों को सत्य का भास हुआ और जहां २ धर्म के नाम पर झगडा या वैर-विरोध बढ रहा था वह शांत हो गया। इस तरह स्याद्वाद धर्म का वास्तविक-सत्य स्वरुप निम्न लिखित पांच अन्धों के उदाहरण से समझने योग्य है:—

एक समय पांच अन्धे मनुष्य हाथी को देखने गये। परन्तु अन्धत्व के कारण आंख से देखना उनके लिये असंभव था परन्तु पांचोने मिलकर हाथी के शरीर का एक २ अंग पकड कर मनमें निश्चय कर लिया कि हमने हाथी को ठीक २ पहिचाना है। एक सज्जनने पूछा कि भाई! तुमने हाथी को देखा है? तब जिस अन्ध मनुष्यने हाथी का पांव पकडा था वह झट से बोल उठा कि हां मैंने हाथी को बराबर स्पर्श कर

के देखा है कि हाथी ठीक २ स्तंभ के बराबर होता है। तब दूसरा अंध जिसने कान पकडा था वह बोल उठा कि नहीं नहीं, हाथी तो सूप के समान होता है। अब जिसने ... पकडा था वह कैसे चूप बैठ सके? वह दोनों की बातों ... कर बोला कि–तुम किसी को मालुम नहीं है, मैंने बराबर चारों ओर हाथ फिरा कर देखा है कि हाथी बराबर मुसल-सांबेला के समान ही होता है। यह बात सुन चौथा कि जिसने सुंढ पकडी थी उनका मुंह एकदम बिगड गया, वह बोला तुम तीनों झुठे हो–व्यर्थ विवाद करते हो। मैंने अपने हाथों से खुब पंपाल कर देखा है कि हाथी तो ठीक २ केल के स्तंभ जैसा होता है। ये चारों का विवाद सुन पांचवा कि जिसने पूंछ पकडा था उन का मिजाज एकदम गरम हो गया, वह बोला तुम चारों बडे बेवकूफ हो, जिस बात को जानते नहीं उन की व्यर्थ चर्चा कर समय व्यतीत कर रहे हो? सीधी बात तो यह है कि हाथी और चंवर में विशेष कोई फर्क नहीं है। चंवर देखो और हाथी देखो लगभग समान ही बात है। इस तरह एक २ अंग को पकड कर संपूर्ण वस्तु का निश्चय करनेवाले पांच अन्धों का विवाद परस्पर मे बढने लगा। तब किसी नेत्रवान् समझदार व्यक्तिने संपूर्ण हाथी को और उन के अंग-प्रत्यंग को देख कर उन अंधो को समझाया कि भाई! हाथी न तो स्तंभ समान है न सूप जैसा है, न मुसल–सांबेला के समान है और न केल के स्तंभ बराबर है, और न चंवर के समान भी है। आप लोग व्यर्थ क्यों झगडते हो? मैंने अपनी



आंखो से देखा है कि हाथी वास्तव में एक जबरदस्त प्राणी है और अति सुशोभित एवं उपयोगी जानवर है। आप लोगोंने मात्र स्पर्शद्वारा हाथी का एक एक अंग ही देखा है अतः हाथी का वास्तविक सत्य स्वरुप समझने से दूर हो रहे हो। इस तरह एकान्त मार्ग उन अन्धों की तरह मात्र एक ही अमुक सत्यांश का प्रतिपादन करता है जब अनेकान्तवाद-स्याद्वाद धर्म उस नेत्रवान मनुष्य की तरह संपूर्ण सत्य का प्रतिपादन करता है अतः वस्तुस्थिति को यथार्थ रुपमें पहिचानने के लिये एकान्तदृष्टि की अपेक्षा अनेकान्त दृष्टि से देखना चाहिये जिस से सत्य तत्त्व की प्राप्ति हो सके। स्याद्वाद सिद्धान्त की यही महत्ता है।

स्याद्वाद सिद्धान्त के पालन से क्रमशः समन्वय, अविरोध, साधन और फल की प्राप्ति होती है। क्यों कि जहां समन्वय दृष्टि है वहां स्याद्वाद अवश्यंभावी है। जहां स्याद्वाद सिद्धान्त का वास्तविक पालन है वहां विरोधवृत्ति उपशांत हो जाती है। विरोधवृत्ति उपशान्त होने से साधनमार्ग की प्राप्ति और उस से फल की प्राप्ति भी अवश्यमेव है। इस तरह अनेकान्त दृष्टि से आत्मा को अनेक लाभ हांसिल होते है। विश्वमें रहे हुए मताभिमान और कदाग्रह की जड को नष्ट करना हो तो अनेकान्तवाद ग्रहण किये विना छूटकारा नहीं है अतः समस्त तत्त्वाभिलाषीओं को चाहिये कि वे स्याद्वाद मार्ग को जरुर अंगिकार करें, उन के लिये परम हितावह यही एक मार्ग है।

जिस समय धर्मान्धता का प्रवाह खूब जोर से यहा हुआ

था उस समय आर्यधर्म के पक्षपाती धर्मान्ध गुरुओंने अपने २ मताग्रहमें विकल हो इस स्याद्वाद धर्म पर अन्याय किया है। यानि परिपक्व दृष्टि विना जो तुच्छ आक्षेप-विक्षेप कर अपनी कदाग्रही बुद्धि का परिचय जगत को कराया है इस से वास्तव में तो सूर्य की सामने धूल फेंकनेवाले की तरह अपने २ धर्म का गौरव घटाया है। क्यों कि सत्य वस्तु कदापि छुपी नहीं रह सक्ती यह बात निर्विवाद है। आज वे ही आर्यधर्म के धर्मान्ध गुरुओं के धुरंधर विद्वान् और समर्थ शिष्य लोग स्याद्वाद धर्म का वास्तविक स्वरूप और उन की विशालता देख कर मुक्तकंठ से प्रशंसा कर रहे हैं। निम्नलिखित अभिप्राय से पाठक इस बात को भली भांति समझ सकेंगे।

स्याद्वाद धर्म संबंधी अभिप्रायः—

जैनधर्म-स्याद्वाद सिद्धान्त के विषय में पं. लालचंद भगवान गांधीने "जैन पत्र ता. १२ मे १९२९ पृष्ठांक ३४१" में जो उल्लेख किया है उसमें लिखा है कि 'सरस्वती' मासिक के भूतपूर्व संपादक पं० महावीरप्रसाद त्रिवेदीने स्याद्वाद के संबंधमें मर्मस्पर्शी भाषामें इस मुजब अपना उद्गार प्रगट किया है:—

" काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्री मुख्य अध्यापक श्रीयुत् फणिभूषण बाबू एम; ए. महाशयने स्याद्वाद धर्म-जैन सिद्धान्त पर अपना अभिप्राय प्रगट किया है कि:— " जैनधर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त अति महत्त्वपूर्ण और आक

र्षक है। उस सिद्धान्तमें जैनधर्म की विशेपतायें भरी हुई हैं। उस विशेपता के प्रभाव से स्याद्वाद–जैनदर्शन की अद्वितीय स्थिति दृष्टिगोचर होती है, परन्तु कईएक लोग स्याद्वाद को केवल गूढ शब्दप्रयोग अथवा हास्यास्पद मानते हैं।

" जैनधर्ममें स्याद्वाद शब्दद्वारा जो सिद्धान्त प्रकाशमान हो रहा है उनको तथारुपमें न समझने के कारण ही कतिपय लोगोंने उस सिद्धान्त का उपहास किया है; वह केवल अज्ञानता का ही प्रभाव है। कईएक महाशय उनमें दोप तथा भिन्न २ अर्थ का आरोपण करना भी नहीं चूके है। मैं तो यहां तक कहने का साहस करता हूं कि इस दोपसे विद्वान् शंकराचार्य जैसे भी मुक्त नहीं है। उन्होंने भी स्याद्वादधर्म प्रति अन्याय ही किया है। साधारण विद्वान् की ऐसी भूल किसी तरह भी क्षम्य मान ली जाय, परन्तु मुझे स्पष्ट कहने की आज्ञा मिले तो कहूंगा कि भारतवर्प के ऐसे विद्वान् पुरुषों का यह अन्याय हमेशा के लिये अक्षम्य गिनना चाहिये। यद्यपि मैं तो खूद उस महर्पि की तरफ मानदृष्टि से ही देखता हूं तथापि मुझे साफ २ मालुम होता है कि श्रीमान् शंकराचार्यजीने " विवसन समय–अर्थात् नग्न लोगों का सिद्धान्त " यह अनादर सूचक शब्दप्रयोग जैनधर्म के शास्त्रों के विपयमें किया है यह केवल जैन ग्रंथों के अनभ्यास का ही परिणाम है। स्याद्वाद यानि जैनधर्म वस्तुतः सत्यस्वरूप का ही प्रेरक है। मैं एक बात खास जोर देकर कहना चाहता हूं कि–समस्त विश्व को अथवा उन के

किसी एक अंश को यथार्थरूपसे समझने के लिये एक ही दृष्टिकोण संपूर्ण नहीं माना जाता-विविध दृष्टिबिन्दु से ही संपूर्ण सत्य का प्रकाश होता है।

भिन्न भिन्न दृष्टि से देखने पर ही संपूर्ण सत्य को यथार्थ रूपमें जान सकते हैं। वास्तविकमें यह विश्व असंख्य तथा पर्यायों का समूह स्वरूप है और यथार्थ ज्ञानप्राप्ति के साधन इतने अपूर्ण हैं कि अपने परिचित दृष्टिकोण से प्राप्त ही हम संपूर्ण सत्य को प्राप्त कर सकते हैं। केवल सर्वज्ञ ही संपूर्ण सत्य को पहिचान सकते हैं। हम तो एकांशिक विचार और अपूर्ण स्पष्टिकरण के अधिकारी हैं। ऐसी दशामें पूर्ण सत्य की सीमा को हम स्पर्श भी नहीं कर सकते।

(२)

काशी के स्वर्गस्थ प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं॰ श्री राममिश्र शास्त्रीजी सुजन संमेलन नामक पुस्तक में सम्बन्धि प्रथम व्याख्यान द्वारा स्याद्वाद के विषय में कहते कि:-अनेकान्तवाद एक ऐसी चीज है जिस का हरएक स्वीकार करना पडेगा। इतना कह कर वे विष्णुपुराण के अ ई-द्वितीयांश के श्लोक का निम्न लिखित भावार्थ बतलाते हैं

पराशर महर्षि कहते हैं कि-" वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है इस का अर्थ यह है कि कोई भी वस्तु एकान्तसे एकरूप- है। जो एक समय सुख के हेतु होती है वही अन्य समय

के निमित्त होती है। और उसी तरह दुःखनिमित्त वस्तु सुख हेतु भी होती है। यह अनेकान्तवाद नहीं तो और क्या है?। इस तरह यह महाशय कितनेक हेतु बतला कर, अनेकान्तवाद सब को मान्य करना पडेगा यह जाहिर करते हैं। नैयायिक अंधकार को तेजका अभाव मानते हैं। और मीमांसक तथा वेदांतिक उसको भावस्वरूप कहते हैं। देखने की बात यह है कि आज तक इस का कोइ निश्चय नहीं हुआ। मगर आश्चर्य है कि इस अनिश्चिततामें ही जैनधर्म का अनेकान्तवाद निश्चित होता है। क्यों कि वे तो वस्तु को अनेकान्त स्वरूप मानते हैं। वह चीज किसी एक अपेक्षासे भावस्वरूप भी है और किसी अपेक्षा से अभाव स्वरूप भी है। ऐसे अनेकों तर्क वितर्क कर के उक्त पंडित शिरोमणिने अनेकान्तवाद का अच्छा सा समर्थन किया है।

(२)

गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. आनंदशंकर बापुभाई ध्रुव का अभिप्राय.

प्रोफेसर साहबने अपने किसी एक व्याख्यानमें कहा था कि स्याद्‌वाद का सिद्धान्त एकीकरण के दृष्टिबिन्दु को हमारे सामने उपस्थित करता है। शंकराचार्यने जो आक्षेप स्याद्वाद पर किये हैं उन का सम्बन्ध मूल रहस्य के साथ नहीं है। यह तो एक मानी हुई बात है कि विविध दृष्टिबिन्दु से निरीक्षण किये विना कोई भी वस्तु पूर्णरीत्या हम ज्ञात नहीं कर

सकते। और इसी लिए स्याद्वाद उपयोगी व सार्थक है। महावीर के सिद्धान्त में बतलाये हुए स्याद्वाद को लोग संशयवाद कहते हैं। मगर मैं इस बात को स्वीकार नहीं करता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है मगर वह हमें एक दृष्टिबिन्दु देता है। विश्व निरीक्षण के वास्ते हमें पाठ पढाता है।

(४)

महात्मा गांधीजी का अभिप्राय.

सृष्टिमें परिवर्तन होता है इसी लिए सृष्टि को असत्य अर्थात् अस्तित्व रहित कह सकते हैं, परन्तु (पर्याय भेदसे) परिवर्तन होने पर भी उसका कोई एक ऐसा स्वरूप है जिस रुपमें वह है और इसी लिए वह सत्य है। (वस्तुगतसे) इस लिए अगर उसको सत्यासत्य कहो तो भी मुझे विरोध नहीं है। और इसीसे मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहने में आवे तो कोई बाध नहीं है। केवल मैं स्याद्वाद को जिस तरह पहचानता हूँ उसी तरह माननेवाला हूँ। शायद पंडितगण जिस तरह कहें उस तरह नहीं। अगर वे मेरे साथ वादविवाद करें तो मैं हार जाऊँगा। मैंने अपने अनुभवसे देखा है कि–मैं अपनी नजरमें हमेशां सचा होता हूँ और मेरे प्रामाणिक टीकाकारों की दृष्टिमें झुंठा होता हूँ। मगर यह जाननेसे मैं उनसे सहसा झुंठे और प्रपंची नहीं मान[illegible] । सात नेत्रविहीनोंने हाथी को सात तरह से बताया

प्रत्येक अपनी दृष्टि से सच्चा भी था और मृषावादी भी था। यह अनेकान्तवाद मुझे बहुत प्रिय है। उसी में से मैं मुसलमानों की परीक्षा मुसलमानों की दृष्टिसे, ईसाइयों की उनकी दृष्टि से करने को सीखा। मेरे विचारों को जब कोई असत्य कहता था तब मुझे पहिले बड़ा क्रोध आता था। अब मैं उन का दृष्टिबिन्दु उनकी नजरसे देख सकता हूँ। और इसी लिए मैं उनके पर प्रेम कर सकता हूँ, क्यों कि मैं जगत् के प्रेम का भूखा हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।

जैनों के सिद्धान्त निष्पक्ष हैं।

श्रीयुत् पंडित लालचंदभाईने 'सरस्वती' नामक मासिक के तंत्रीवर्य का जो स्याद्वाद सम्बन्धि अभिप्राय बतलाया है उसमें अधोभागमें जैनों के सिद्धान्त निष्पक्ष भी है ऐसा भी बताया है। जिस का अवतरण यहाँ दिया जाता है।

जैनों के सिद्धान्त निष्पक्ष और केवल सिद्धान्त भेद की वजहसे आपसमें इर्ष्या-मत्सर आदि से रहित हैं। और इसी वास्ते उल्लेख करते हैं कि—

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषान् विशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथा ते॥

यह श्लोक श्री हेमचंद्राचार्यने जिनेन्द्र महाप्रभु श्री महावीर देव की स्तुति के लिए कहा है। उसका भावार्थ यह है कि—

हे भगवन् ! आप का सिद्धान्त निष्पक्ष है, क्यों कि इसमें एक ही चीज अनेक दृष्टिसे देखी जाती है, ऐसा आपने बतलाया है। केवल सिद्धान्त भेदमें ही परस्परमें ईर्ष्या, मत्सर होता है, ऐसी स्थिति स्याद्वादमें नहीं हो सकती।





समभाव.

जैनदर्शन, मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग (साधन) समभाव मानता है। यह मार्ग सर्व दर्शनवाले को स्वीकार करने लायक है।

चौदहसो चुंवालीस ग्रंथरत्नों के कर्ता समर्थज्ञानी श्री हरिभद्रसूरिजी कहते हैं कि——

[illegible]यं वरोय आसं वरोय बुद्धो अ अहव अन्नोवा ।
ावभाविअप्पा लहइ मुख्खं न संदेहो ॥

श्वेताम्बर हो कि दिगम्बर हो, बौद्ध हो कि अन्य मार्गानुगामी हो, परन्तु जिसका आत्मा समभावमें रमण करता है वह निश्चयसे मोक्ष को पाता है। इस में कोई संदेह नहीं है। इस परसे स्पष्ट होता है कि मोक्ष का मार्ग किसी का रजिस्टर्ड (Registered) नहीं है। कहावत है कि-" मारे उसका धर्म, मारे उसका हथियार "। जो आत्मार्थी जन होता है वह हमेशा हंसपक्षीनीर विवेक की तरह मिश्र दूध और उसरुपी धरमावस्य मे दूधरूपी तत्त्व को अलग कर लेता है और असत्त्वरूपी जल त्याग देता है। सांसारिक-मायापूर्ण जालसाजी को छोड कर ये अपने आत्माका उद्धार साधते हैं, और धर्म के नामसे अधर्म की जालमें फँसकर अधर्माचरण नहीं करते। संपूर्ण विश्व के प्रत्येक धर्मोंने मनुष्यभव की दुष्प्राप्यता बताई है। और यह मनुष्यभव सार्थक करनेकी और सत्मार्ग को जाननेकी एकमात्र चावी 'समभाव' है। हम नित्यप्रति अनुभव करते हैं कि समुद्र जब भरती की ओर होता है तब उस की उठती लहरोंमें हम उस के अंदर की रत्नराशि को नहीं देख सकते मगर जब यह शान्त होता है तब हम उस रत्नराशि को अच्छी तरह देख सकते हैं। उसी तरह मनरूपी सरोवर कामनाओं की लहरोंसे अशान्त होता है तब हम अन्तर आत्मा को पहचान नहीं सकते। मगर मनोवृत्तियें शान्त होने पर ही हम समभाव को प्राप्त कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान सकते हैं। समभाव मुक्तिमहेल का प्रथम दरवाजा है और इसीलिए जैन शास्त्रकारों ने सामायिक को प्रधा-



समभावी श्री पार्श्वनाथ

श्लोकानुरूप चित्रकार - जयन्तीलाल झवेरी

कमठे धरणेंद्रे च स्वोचित कर्म कुर्वती ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तुवः ॥

प्रवृत्तियोंसे पर हैं और जहाँ आत्माके धर्मका ही साम्राज्य है वेही आत्मा समस्थिति को प्राप्त करते हैं ।

समभावी हमेशां सरल स्वभावी होता और निरभिमान वृत्तिवाला होता है । जिस तरह वह शान्तता का प्रेरक है, उसी तरह वह समानता का भी द्योतक है ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति ।

इस दीव्यसूत्र का अच्छा परिचय करानेवाला कोई हो तो वह समभाव है । इस लिए मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे समभाव को प्रथम प्राप्त करें यही हमारे कहने का आशय है ।



अहिंसा परमो धर्मः ।

प्रास्ताविक.

अहिंसा यह सर्वमान्य धर्म है । कोई भी शास्त्रकार हिंसा धर्म है ऐसा बता नहीं सकता । देखो ! महाभारत भी कहाँ ह कहता है :—

" अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥ "

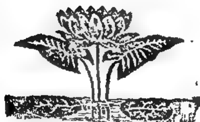
" एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव ?
नहि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥ "

(अनुशासन पर्व, ११६ वाँ अध्याय, ३७–४१).

का तात्पर्य यह है कि उस की साधना से मोक्ष निश्चित से होता है।

प्र० आत्मज्ञान से क्या प्राप्त होता है ?

उ० आत्मज्ञान से अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख) प्राप्त होता है, क्योंकि इन में ज्ञानादि शुद्धि अनन्त होती है और उसी की साधना से निवृत्ति–मोक्ष होता है। इत्यलम् ।



१३ वाँ अधिकार.

परोक्ष और प्रत्यक्ष ये दोनों प्रमाण स्वीकारने के योग्य हैं।

१० कितनेक कहते हैं कि–पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, स्वर्ग नहीं है, नरक नहीं है, मोक्ष नहीं है, पुनर्जन्म भी नहीं है और मन से कुछ भी नहीं ग्रहण कर सकते और जिस में पांचो इन्द्रियों के विषय होते हैं ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड के अन्य किसी प्रमाणों को नहीं मानने चाहिए। क्या यह युक्तिसंगत है ?

उ० जो वस्तु दृश्य हो वही सत् और अन्य असत् ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। जिस में पांचों इन्द्रियों का विषय हो ऐसी वस्तु कौन है उस को प्रथम विचारना चाहिए। अगर रामादि में (स्त्री आदि में) पांचों इन्द्रियों का विषय है तो सोचना चाहिए कि रात्रि में शब्द–रूप से समान किन्तु पूर्वकथित जो रामादि वस्तु नहीं है उस में क्या रामादि वस्तु का ... होता ? अगर यह कहा जाय कि रात्रि में

इन्द्रियों के ज्ञान की हानि होने से प्रायः मोह हो जाता है और इसी से अतद् वस्तु में तद् वस्तु का-रागादि नहीं वैसी वस्तु में रागादि का भ्रम होता है। अस्तु। तब यह तो सिद्ध हो चुका कि इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान हमेशा सत्य नहीं होता।

निरोगी मनुष्य शंख को सफेद देख कर लेता है मगर जब कभी उस की आंख में कोई रोग हो जाता है तब वा उस को विविध रंग से भरा देखता है। और मनुष्य जब स्वस्थ होता है तब अपने स्नेहिजनों को अच्छी तरह पहिचानता है मगर वह जब नशे में—मदिरा आदि में—मस्त होता है तब क्या पहिचान सकता है? अगर इन्द्रियों से ज्ञात हुआ पदार्थ सत् होना चाहिए तो उसी आदमी में उन ही इन्द्रियों के रहने पर भी इतना विपर्यास पूर्वज्ञान और उत्तरज्ञान में क्यों होता है? और उस का कौनसा ज्ञान सचा मानना, रोगादि के पूर्व का या पीछे का अगर पूर्व का सचा मानो तो इन्द्रियाँ पूर्व की होने पर भी ज्ञान में विभिन्नता क्यों पैदा हुई इस से निश्चित होता है कि प्रथम मन अविकारदशा में था और विकारदशा में अब है? और इसी से ही यह भेद हुआ अब भेद किस में हुआ यह सोचना चाहिए। यह भेद अगर मानसिक हो तो मन दृश्य नहीं है और वर्णों से भी उस का निवेदन नहीं कर सकते। अगर केवल इन्द्रियों का ही सच माना जाय तो मन की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती

हो साक्षात् हुआ है तो फिर यह कैसे हुआ ? इस से सिद्ध होता है कि इन्द्रिय ज्ञान सब सत्य नहीं होता ।

और भी आनन्द शोकादि शब्दों को नास्तिक और आस्तिक समान रीत से यथार्थ मानते हैं । ये शब्द जिह्वादिवत् शब्दवाले नहीं, सुवर्णादि के तरह रूपवाले नहीं, पुष्पादि के समान गन्धवाले नहीं शर्करादि की तरह रसवाले नहीं और हवा के तरह स्पर्शवाले नहीं किन्तु ताल्वोष्ठ जिह्वादि (तालु–ओष्ठ–जिह्वा) स्थान से कहे जाते हैं, और श्रोत्रेन्द्रियद्वारा उस के वर्णों को ग्रहण कर सकते हैं, और उस मे होनेवाली चेष्टाओं मे विशेष बोध होता है, और स्वानुभव से प्राप्त फल से अनुमान हो सकता है, और वे शब्द स्व–विरोधियों का नाश करते हैं और विरोधियों के जन्म के साथ अपने नाम का शीघ्र नाश करते हैं । खुद के उचार के साथ उत्पन्न होनेवाले गुणविशिष्ट उन शब्दों को प्रत्येक समान रीत से काम में लाते हैं । अगर ऐसे सिद्ध शब्दों का साक्षात्कार (अनुभव) स्व–इन्द्रियों से नहीं होता तो अप्रत्यक्ष पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि में किस की इन्द्रियाँ प्रवृत्त हो सकती हैं ।





१४ वाँ अधिकार.

परोक्ष प्रमाण की सिद्धि.

प्र० केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाणरूप से मान्य करना" यह क्या सर्व पदार्थों की सिद्धि के लिए योग्य है ?

उ० "केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाणरूप से स्वीकार करना" यह कहना सर्व पदार्थों की सिद्धि के लिए ठीक नहीं है।

प्र० तब वास्तविक क्या है ?

उ० शास्त्र के प्रवीणपुरुष कहते हैं कि—जो एक शब्द से (पद से) कहे जाते हैं वे सत्पद होते हैं, और जो सत्पद से वाच्य होते हैं उन का अस्तित्व होना भी अनिवार्य है। जैसे, आनंद शोकादि को पूर्वोक्त शब्द विशेष में काल, स्वभाव, नियति, कर्म, उद्यम, प्राण जीव, आकाश, संसारविचार इत्यादि शब्दों में से कीसी भी शब्द को कैसा विचक्षण चेष्टा से प्रति-

पादन नहीं कर सकता; किन्तु प्रत्येक शब्द को सत्तद् को कहना ही योग्य है। उन के वर्ण केवल कर्णे-न्द्रिय से ही ग्रहण हो सकते हैं और स्व-स्व भाव से उत्पन्न होनेवाले उन उन प्रकार के फलों से अनुमान भी हो सकता है। प्रत्यक्ष करना यह कार्यमात्र केवलज्ञानी ही कर सकता है।

वे शब्द जो दो या उन से ज्यादा शब्दों के संयोग से होते हैं उन का अस्तित्व होता भी है और नहीं भी होता। जैसे "वंध्यापुत्र" यह शब्द दो पदों से बना है और उस का अस्तित्व संसार में नहीं है किन्तु उन्हीं पदों को भिन्न करने पर वंध्या का भी अस्तित्व मिलता है और पुत्र की भी हस्ति नजर आती है इस लिए यह साबित होता है कि एक पदवाले अवश्य होते हैं जब ज्यादा पदवालों का अस्तित्व संशयास्पद होता है। जैसे मृग-जल, आकाश-पुष्प, खर-शृंग इत्यादि अनेक संयुक्त शब्द नहीं होते।

कितनेक शब्द संयोगज होते हैं जिस का विरह प्रायः नहीं होता-गोशृंग, गोपति, भूधर इत्यादि शब्द भिन्नभिन्न और संयुक्त भी होते हैं।

और भी इन्द्रियज्ञान यह सर्व सत्यज्ञान नहीं है। इस के लिए विशेष में यह लिखने का है कि-कर्ण, नेत्रादि से ग्रहण होने के योग्य ऐसी वस्तु में भी सच्चे कर्पूरादि नहीं किन्तु उस के सदृश लवणशर्करादि में भी नेत्र या कर्ण भेद नहीं ...

सकते । नेत्र, कर्ण, जिह्वा तथा नासिका से शर्करा, कर्पूरादि सुगन्धी वस्तुओं का ज्ञान होता है किन्तु कभी कभी जिह्वा से होनेवाले ज्ञान को ही प्रामाण्य आता है ।

और भी सुवर्णादि में नेत्र से, कर्ण से ज्ञान होता है मगर जब तक कषादि से निश्चय नहीं किया जाता वहाँ तक नेत्र-कर्णादि के ज्ञानों को प्रामाण्य नहीं आता ।

रत्नपरीक्षकवर्ग इन्द्रिय समान होने पर भी रत्न-परीक्षा नामक ग्रंथ के आधार से माणिक आदि रत्न-राशि की किंमत भिन्नभिन्न कहते हैं । उस में स्व प्रतिभा ही मुख्य कारण है । इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियज्ञान संपूर्ण सत्य नहीं होता ।

और भी औषधि, मंत्र, गुटिका अथवा अदर्शीकरण (नेत्रांजन) से गुप्त रहनेवाले का शरीर लोगों की दृष्टि में नहीं आता और इस से इन्द्रियां " वह नहीं है " ऐसा ज्ञान क्या नहीं करता ? इस लिए इन सब से परोक्ष की सिद्धि होती है और परोक्ष की सिद्धि में ही स्वर्ग-नरक की सिद्धि है ।

प्र० और भी जो वस्तु चेष्टा से भी नहीं नजर आती उस को कैसे स्वीकार कर सकते हैं ?

उ० सर्वज्ञ प्रभु केवलज्ञान से जितनी सत् वस्तु होती है उन को जानते हैं और इसी लिए अन्य के ज्ञानार्थ जिन जिन बातों वे कह गये हैं उस में प्रामाण्य स्वीकार [illegible]

और भी संसार में अन्य मनुष्यों को जिन चीजों का ज्ञान भी नहीं होता, उन चीजों को उस के वास्तविक स्वरूप को समजनेवाले अच्छी तरह से ज्ञात करते हैं।

नैमित्तिक लोग (ज्योतिर्विद) ग्रहण, ग्रहोदय, गर्भ तथा मेघ का आगमन काल जान सकते हैं।

वैद्य शरीर में स्थित प्रत्येक व्याधियों का निदान कह सकता है।

जासूस वर्ग पदचिह्नों से भी वास्तविक चोर को पकड़ सकते है। शाकुनिक शकुन को कह सकता है। सामान्य जन ऐसा कुछ भी नहीं कर सकता। इसी से हि ज्ञात हो सकता है कि इन्द्रियों से और क्या बोध हो सकता है ?

सारांश में यह है कि प्रत्येक जन परोक्ष पदार्थों का ज्ञान नहीं कर सकता। संपूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञानी को ही होता है। इन्द्रियाँ होने पर भी मनुष्य आचार, शिक्षा, विद्या, मंत्र आदि स्वयं नहीं ज्ञात कर सकता वहाँ पर अन्य के उपदेश की आवश्यकता होती है।

इस लिए स्थिर चित्त होकर, संपूर्ण विकल्पों को छोड़ के समजो कि इन्द्रियाँ स्वग्रहण योग्य पदार्थों का ही ग्रहण करती है। जो ज्ञान परोक्ष होता है वह परोपदेश से शीघ्र समजने में आता है। जैसे स्वशरीरगत रोग को किसी चिकित्सक के कहने पर ही पहिचान सकते हैं; स्वयं नहीं जान सकते।

शरीर की अवयवभूत वस्तु देख सकते हैं मगर अमूर्त का देखना असम्भव होता है। आकृति को धारण करनेवाले (साकार) जीवों के शरीर पर स्थित कोई भी चीज देख सकते हैं किन्तु निराकार जीव के गुणों को नहीं देख सकते, क्यों कि वे भी निराकार होते हैं। इसी से सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ स्वग्रहणयोग्य पदार्थ को ही ग्रहण कर सकती है। आम जनों का कथन है कि सामान्य लोग की इन्द्रियाँ संपूर्ण ग्रहण नहीं कर सकती यह सर्वथा सत्य हैं।





१६ वाँ अधिकार.

निगोद स्वरुप.

प्र० निगोद के जीवों का संक्षेप से स्वरुप कहिए।

उ० निगोद के जीव अनन्तकाल तक निगोद में ही रहते हैं। नारक-जीवों के दुःख से अनन्तगुना विशेष दुःख वहाँ होता है। और स्वल्प समय में अनेकवार जन्म मृत्यु करते हैं। उन को मन भी नहीं होता, जो जीव व्यवहार राशी में आते हैं वे क्रम से विशुद्ध होते हैं। व्यवहार राशी में से जो जीव वापिस आता है वह पुनः निगोद के ... है।

...य को, त्रीरिन्द्रिय को, चतुरिन्द्रिय को मन ... संज्ञी होता है उस को मन होता है, असंज्ञी ...

—जैन सिद्धान्त.

७• स्वर्ग–नरकादि का किसी भी चेष्टा विशेष से बोध नहीं होता, किन्तु इस कारण से उस का नास्तित्व नहीं हो सकता । हम देख सकते हैं कि—देव–देवी की उपासना करनेवाले भक्त लोक उन की भक्ति करने से अपने वांछित फल को प्राप्त करते हैं, किन्तु फल को देनेवाले देवदेवीयों को प्रत्यक्ष कभी नहीं देखते तो क्या उन को न देखने से वे कभी उन की सत्ता का अस्वीकार करते हैं ? इसी तरह प्राप्ति के योग्य स्वर्ग–नरकादि की सत्ता समझ लेनी चाहिए ।

और भी " लंका है " ऐसा हम और आप हमेशां स्वीकार करते हैं और उस के आस्तित्व को प्रमाणित मानते हैं, मगर कोई सवाल करे कि " लंका कहाँ है, हमें बतलाओ " तो सज्जनो ! जब तक वह संशय करने-वाला मनुष्य लंका को नहीं जावेगा, वहाँ तक कैसे उस को प्रत्यक्ष हो सकता है ? तो एक चीज जो यहाँ मौजूद है वह भी बिना वहाँ गये नहीं देख सकते तो हम छद्मस्थ बिना केवलज्ञान के स्वर्ग–नरकादि को कैसे प्रत्यक्ष कर सकते हैं ?

८



१६ वाँ अधिकार.

निगोद स्वरुप.

निगोद के जीवों का संक्षेप से स्वरुप कहिए ।

निगोद के जीव अनन्तकाल तक निगोद में ही रहते हैं। नारक-जीवों के दुःख से अनन्तगुना विशेष दुःख वहाँ होता है । और स्वल्प समय में अनेकवार जन्म मृत्यु करते हैं । उन को मन भी नहीं होता, जो जीव व्यवहार राशी में आते हैं वे कम से विशुद्ध होते हैं । व्यवहार राशी में से जो जीव वापिस जाता है वह पुनः निगोद के सदश होता है ।

---

१ एकेन्द्रिय को, द्वीन्द्रिय को, त्रीन्द्रिय को, चतुरिन्द्रिय को मन नहीं होता, पंचेन्द्रिय में जो संज्ञी होता है उस को मन होता है, असंज्ञी को मन नहीं होता.

प्र० यह कैसे होता है वह स्पष्टता से समझाईए ?

उ० निगोद के जीव जातिस्वभाव से और महा दुःखदायक उत्तरकाल की तादृश प्रेरणा से सदैव दुःख को पाते हैं। जिस तरह लवण समुद्र का जल सदैव लवण ही होता है, अनन्तकाल व्यतीत होने पर वह कभी मिष्ट नहीं होता, और वर्णांतर को भी नहीं प्राप्त होता, इस तरह अनन्तानन्त काल व्यतित होता रहता है, यद्यपि जब लवणसमुद्र का जल मेघ का मुख प्राप्त होने पर (आतप से बाष्प होकर मेघ बनने के बाद) गंगादि महानदी में आने से पेय हो जाता है, इसी तरह निगोद में से निकल कर व्यवहारराशी में आने पर जीव सुखी होते हैं। जैसे गंगादि महानदी का जल फिर लवण समुद्र में जाने पर समुद्र-जल के रूप और रसयुक्त खार होता है।

और भी कुमांन्त्रिक के हृदय में कुमन्त्र के वर्ण होते हैं वे उच्चाटन कहलाते हैं। कुमांन्त्रिक के हृदय जैसा निगोदस्थान होता है। सन्मत्र के वर्णों के समान व्यवहारराशी के जीव होते हैं। जिस तरह कुमन्त्र के वर्णों में से जो वर्ण सन्मन्त्र में आते हैं वे शुभ कहलाते हैं। उसी तरह निगोद के जीवों में से जो व्यवहारराशी में आते हैं वे विशिष्ट होते हैं। और जिस तरह सुमन्त्र के वर्ण सुमन्त्र के काम में आने से

से दूषित होते हैं। उसी तरह व्यवहार राशी में से निगोद में आया हुआ जीव पुनः निगोद के जैसा होता है।

प्र० निगोद के जीव समस्त लोक में व्याप्त होकर रहे हैं वे घनीभूत होने पर क्यों देखने में नहीं आते ?

उ० निगोद के जीव अति सूक्ष्मनामकर्म के उदय से एक शरीर में आश्रय कर के अनन्तान्त रहे हुए हैं। किन्तु वे चर्मचक्षु से नहीं देखे जा सकते। जिस तरह गंधा (वज) कलेवर और हिंग आदि की अनेक प्रकार की गंध परस्पर मिलकर रहने से अन्य वस्तु को या आकाश को संकीर्णता नहीं होती। निगोद के जीव को परस्पर मिलने से संकीर्णता होती है। किन्तु अन्य वस्तु को या आकाश को संकीर्णता नहीं होती। जैसे गंधादि वस्तु का अस्तित्व नासिका से ज्ञात होता है, किन्तु नेत्र से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। उसी तरह निगोद के जीवों का अस्तित्व श्री जिनवचन से श्रद्धा करने पर ज्ञात हो सकता है किन्तु नेत्रों से या इन्द्रियों से ज्ञात नहीं कर सकते, केवल ज्ञानी ही देख सकता है। हवा में उड़नेवाली रज हम नहीं देख सकते किन्तु किसी छिद्र प्रविष्ट सूर्य किरण में उस को देख सकते हैं वैसे दिव्यदृष्टि ही निगोद के जीवों को देख सकता है।

प्र० निगोद के जीव आहार करते हैं किन्तु वे किस गुण से [illegible]त्व को प्राप्त नहीं होते ?

उ० जिस तरह पारद अनेक धातुओं को हजम कर जाने पर भी गुरुत्व को प्राप्त नहीं होता, चंपा के पुष्प से सुवासित अथवा किसी सुगन्धी धूप से धूपित वस्त्र वजनदार नहीं होता, एक तोला सिद्ध किया हुआ पारद सौ तोला सुवर्ण हजम कर जाता है किन्तु वजन में नहीं बढ़ता और मशक में जैसे हवा भरी जाती है मगर वजनदार नहीं होती वैसे ही निगोद के जीव आहार करते हैं किन्तु गुरुत्व को प्राप्त नहीं होते ।

प्र० निगोद के जीव किन कर्मों से अनन्त काल पर्यन्त दुःखी होते हैं ?

उ० निगोद के जीव स्थूल आस्रव को सेवन नहीं कर सकते एक को छिन्न कर के एक शरीर में अनन्त रहे हुए हैं । पृथक् पृथक् गृह से रहित होते हैं । पारस्परिक द्वेष के कारणभूत तैजस कार्मण शरीर में संस्थित होते हैं अत्यंत संकीर्ण निवास मिलने से परस्पर को छिन्न कर के निकाचित कर्मों को उपार्जित करते हैं, और एक जीव अनेक जीवों के साथ वैर करता है, और भवों प जीव को एक जीव प्रति का वैर अभेद्य होता है अनेक जीवों का वैर क्यों अतीव अभेद्य और अनन्त

१ Air Pump से बिलकुल हवा रहित Vacuum नहीं म साधारण रीति से खाली कीह हुई और फिर भरी हुई मशक

समय तक का न हो। और नित्य प्रति वर्धमान यह वैर उस से भी अनन्त काल तक क्यों न चले। सारांश में निगोद के जीवों का वैर दुष्कर्म और उस को भोगने का काल अनन्त है। जिस तरह अति संकीर्ण पिंजरस्थ पक्षीगण और जाल आदि में फसे हुए मत्स्य पारस्परिक पीड़ा-दुःख से द्वेषयुक्त होने पर अति दुःख के भाजन होते हैं।

और भी शास्त्रनिपुण कहते हैं कि—चोरादि को वध होता हुआ देखने से—कौतुक मात्र होने पर भी—बिना द्वेष वे द्रष्टा सामुदायिक कर्म को उपार्जित करते हैं जो कि अनेक प्रकार से भोग में आता है। इस प्रकार के कर्मों का विपाक जब अति दुःखदायी होता है तब निगोद के जीवों का परिपाक अनन्तकाल व्यतित होने पर भी संपूर्ण न हो तो क्या आश्चर्य !

• निगोद के जीवों को मन नहीं है तथापि वे तंदुल मत्स्य की तरह जिस के परिपाक को अनन्तकाल लगता है वैसे कर्म क्यों उपार्जन करता है ?

० निगोद के जीवों को मन नहीं है तथापि अन्योन्य विबाधा से उन को दुष्कर्म तो अवश्य उत्पन्न होते हैं। विष भक्षण करने से फिर वह ज्ञानावस्था में अथवा अज्ञानावस्था में [illegible]ण किया हो मगर उस का परिणाम अवश्य होता है।

अन्तर यही होता है कि ज्ञानावस्था में कुछ प्रतिक्रिया हो सकती है किन्तु दूसरे में तो नाश ही होता है। इसी तरह मन से रहित उपार्जित कर्म अनन्त काल पर्यन्त भोगने से भी समाप्त नहीं होता। निगोद के जीवों को मन नहीं है किन्तु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, कामयोग—जो कर्मयोग के बीज होते हैं वे होते हैं।





१८ वाँ अधिकार.

प्रतिमा—पूजन से फल प्राप्त होता है ।

प्र० भगवान—परमात्मा की मूर्ति को पूजन से पुण्य होता है यह कथन क्या सत्य है ? अजीव से फलसिद्ध कैसे हो सकता है ?

उ० अजीव की सेवा से क्या लाभ हो सकता है, ऐसा संकल्प भी नहीं करना चाहिए । जैसा आकार दृष्टि में आता है प्रायः वैसे ही आकार के धर्म विषयक मन में चिंतवन पैदा होता है ।

संपूर्ण—शुभ अंगो से सुशोभित रमणी की प्रतिकृति देखने पर वह तादृश मोहोत्पत्ति की कारणभूत होती है । कामासन की स्थापना से कामीजन कामक्रीडा विषयक विकारों का अनुभव करते हैं । योगासन के अवलोकन से योगियों की योगाभ्यास में मति होती है ।

और भी लोक में माना जाता है कि—अशोकवृक्ष की छाया शोक हरण करती है, बेहड़े की छाया कलहकर होती है, बकरी के खुरसे उड़नेवाली धूली पुण्य नाश को होती है। चाण्डालादिकी छाया भी पुण्य का ह्रास करती है। सगर्भा स्त्री की छाया उल्लंघन करनेवाले भोगी पुरुष का पौरुषत्व नष्ट होता है और महेश्वरी की छाया को उल्लंघन करनेवाले पर महेश्वर नाराज होते हैं। इस तरह अनेक अजीव पदार्थ भी दुःख सुख के निमित्त होते हैं तब परमात्मा की मूर्ति सुख के लिए क्यों न हो ?

प्र० परमेश्वर के दर्शन से भक्तों के पापों का नाश होता है यह तो सत्य है, परन्तु पूजन से क्या लाभ होता है यह कहिए।

उ० दर्शन से जैसा लाभ होता है वैसा ही लाभ पूजन से होता है। जिस को जैसी जैसी अवस्था गुण विशिष्ट प्रतिमा चित्त में होती है उन को वे गुण उस प्रतिमा के पूजन से अवश्य संपादन होते हैं। दृष्टान्त के तौर पर लोक में माना जाता है कि ग्रहों की प्रतिमाओं के पूजन से तद् विषयक गुण प्राप्त होते हैं। सतीओं की, क्षेत्राधिप की पूर्वजों की, ब्रह्मा की, कृष्ण की, शिव की और शक्ति की स्थापना मानने से हित और न मानने से अहित होता है। स्तूप (महात्माओं के शरीर को अग्नि संस्कार

उ० परिपूजनीय द्रव्य में (सेव्य के विषय में) ऐसा विचार नहीं किया जाता । जो पूज्य होता है वह पूजा के पात्र होता है । दक्षिणावर्त (शंखादि), कामकुंभ . . और चित्रावल्ली आदि को इन्द्रियाँ नहीं होती किन्तु क्या फल को नहीं देती ? वो अजीव होने से स्पृहा रहित होते हुए भी स्वभाव से पूजक की इच्छा को संपूर्ण करती है वैसे ही परमात्मा की पूजित मूर्ति भी पुण्य प्राप्ति के लिए अवश्य होती है ।

प्र० दक्षिणावर्त आदि पदार्थ अजीव होने पर भी विशिष्ट जाति के दुर्लभ होते हैं इसी से उन का आराधन इष्टप्राप्ति के लिए हो सकता है किन्तु प्रतिमा के विषय में वैसा नहीं है । वे तो सुलभ पाषाण आदि की बनाई जाती है तो फिर कैसे फल को दे सकेगी ?

उ० जिस चीज में स्वभाव से ही गुणों का प्रकाश होता है, उसी से भी पंच मान्य या स्थापित चीज विशेष गुणाढ्य (गुणवाली) गिनी जाती है जैसे किसी एक राजपुत्र को जिस में वीर्यादि गुणों का आविर्भाव हो उस को त्याग करके (छोड़ करके) किसी दुर्बल वंश में समुत्पन्न पुरुष को उस के पुण्य के परिबल से कोइ प्रासादिक पंच राजा स्थापन करता है तब वह दुर्लभ भी वह सबल राजवंशीय पर भी शासन चलाता
उस का अपमान करते
को पात्र होता है ।

विचार योग्य बातों यह है कि वह सर्वगुणसंपन्न राजपुत्र केवल पंच को अमान्य होने से दुःख को पाता है अत पंचमान्य गुणहीन दुर्बलवंश समुत्पन्न राजा शासन चलाता है। इसी तरह चिंतामणी आदि निज स्वभाव से उत्तम होने पर भी परमात्मा की मूर्ति प्रामाणिक पंचों से पूजित होने से पृथ्वी पर विशेष मान्य है। देखो! वरराजा (दुल्हा) महाजन, दत्तपुत्र और ऐसे ही अन्य विषय में जिस को भाग्य की प्रेरणा से स्थापित करता है वह मान्य होता है। ऐसे ही सौभाग्य नामकर्म के उदय से परमेश्वर की जो मूर्ति स्थापित की जाती है वह पूजनीय होती है।

प्र० उपर्युक्त प्रत्येक पदार्थ आकारवाले होने से उन की प्रतिमा भी हो सकती है और कदाचित् पूजनीय भी हो सकती है, किन्तु परमात्मा वीतराग तो निराकार प्रसिद्ध है तब उन का बिम्ब कैसे और उन की पूजा कैसी? और अगर ऐसा किया जायेगा तब अतद् वस्तु में तद् वस्तु का (अभगवंत में भगवंतत्व का) दोष क्यों न होगा?

उ० निराकार भगवन्त का बिम्ब वह अवतारावृति की रचना है। अर्थात् महात्माओंने भगवन्त का अन्तिम भव लक्ष्य में लेकर वैसी मूर्ति बनायी है और फिर भगवंत की किसी भी अवस्था को लेकर उन के अर्थी उन की पूजा करते हैं।



१६ वाँ अधिकार.

प्रतिमा-पूजन.

प्र० निराकार सिद्ध प्रभु की प्रतिमा ईप्सित वस्तु की प्राप्ति करती है ?

उ० निराकार सिद्ध प्रभु की प्रतिमा भी साक्षात् सिद्ध की तरह चित्त की ईप्सित आशा को निःशंका से विस्तारित करती है।

प्र० स्थापना कैसे होती है ?

उ० स्थापना स्वचित्त से होती है।

प्र० स्थापना किन किन पदार्थों की होती है ?

उ० स्थापना सत् (विद्यमान) और असत् (अविद्यमान) की होती है।

प्र० स्थापना सेवन का फल कैसा मिलता है ?

उ० लोक में भी अनाकार चीज का आकार-भाव बतलाया जाता है। जैसे यह भगवन्त की आज्ञा है, उस का पालक

वह साधु है और विराधक वह असाधु है। स्थापना सेवन के समय भावना वैसी सिद्धि होती है।

इन वस्तुओं का अनाकार आकार: भाव लोक में कैसे बताया जाता है ? वह दृष्टान्त के साथ कहो।

आम्नाय (आगम अथवा मंत्र) शास्त्र में भी यह वायु-मण्डल और यह आकाशमण्डल ऐसी आकृति होती है। विचारशास्त्र में स्वरोदय के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश ये पांच तत्त्व आकृति बना कर बताये जाते हैं। इन दृष्टान्तों में जैसे अनाकार वस्तु साकार बतलायी जाती है वैसे ही सिद्ध महाप्रभु की प्रतिमा भी आकार निकल कर बतलायी जाती है। जब अनाकार वस्तु की साकार आकृति बनायी जाती है तब निराकार प्रभु की प्रतिमा हो तो क्या हानि ? और भी देखोः—पूर्वकाल में संसार में वे लोग जो कि लब्धवर्ण हुए हैं उन्होंने आकृति रहित वर्णों को स्वचित्त की कल्पना को यह 'क' और 'ख' ऐसी आकृति देकर साकार बनाये हैं। अगर ऐसा न किया जाता और वर्ण नियत होते तो प्रत्येक की आकृति सदृश होती किन्तु वैसा नहीं है। भिन्नभिन्न ही वर्णाकृत्ति है, कोई समान नहीं है। संसार के जितने राष्ट्र हैं उन सब की वर्णाकृत्ति भिन्नभिन्न है किन्तु व्यक्ति (पठन)काल में उपदेश तो एक समान होता और कार्य भी समान होता है। उन सब लिपियों को

मिथ्या करने के लिए कोई समर्थ नहीं हैं। जिन में जै लिपि सिद्ध होती है उन में उस लिपि से फल निधार कहा जाता है।

और भी जैसे वृद्धपुरुषोंने आकृति रहित अक्षरों की आकृति बना कर के उस की स्थापना अपने अपने मुगुन आशय को समजाने के लिए भिन्नभिन्न कि है, और भी जैसे रागादि को जाननेवालोंने राग भी शब्दरूप होने से आकार रहित होते हुए भी उन सब की साकार स्थापना 'रागमाला' नामक पुस्तक में कियी है इसी तरह सत्पुरुषोंने अनाकार प्रभु के आकार की कल्पना कीयी है और शुभ आशय से जो पूजता है उस की मनःकामना प्रायः सिद्ध होती है।

प्र० अलिप्त परमात्मा को निंदा स्पर्श करती है या नहीं ?

उ० नहीं, उन को जैसे पूजा भी कुछ स्पर्श नहीं करती, वैसे निंदा भी स्पर्श नहीं करती।

प्र० तब प्रभु की कि हुई निंदा किस को लगती है ?

उ० जो निन्दक होता है उस की आत्मा को लगती है। जैसे कोई पुरुष वज्र की दिवाल में मणि को मारता है और कोई पत्थर को फेंकता है किन्तु वे दोनों चीज फेंकक के पास ही वापस आती है, दिवाल को कुछ भी नहीं होता। और भी सूर्य के सन्मुख रज या कर्पर फेंका...

वापिस अपने तरफ उन को आते हुए पाता है, सूर्य को कुछ भी नहीं होता। और भी सार्वभौम चक्रवर्ती, निंदा करनेवाला खुद जनसमूह के समक्ष दुःखी होता है और प्रशंसा करनेवाला स्वयं सुखी होता है। सार्वभौम नृपति को निंदा से कुछ हानि नहीं होती और प्रशंसा से कुछ लाभ नहीं होता। वैसे ही प्रभु की निन्दा-स्तुति को उन को कुछ भी नहीं होता। और भी जैसे अपथ्य आहार ग्रहण करनेवाला दुःखभाजन होता है जब पथ्य आहार लेने-वाला सुखी होता है किन्तु आहार को हानि या लाभ कुछ भी नहीं होता। ऐसे ही सिद्धों की पूजा पूजक को लाभ-कारी होती है।

२० वाँ अधिकार.

प्रतिमा-पूजन.

प्र० चिंतामणि प्रमुख पदार्थों के पूजन से पूजक को फलसिद्धि होती है। परमात्मा की पूजा तत्काल फल को नहीं देती उस का क्या कारण है ?

उ० वास्तविक रीति से देखने पर स्पष्ट होता है कि—जिस चीज को फलने का जो काल होता है उसी काल में वह फल को देती है। दृष्टान्त यह है कि—गर्भ जल्दि नहीं किन्तु प्रायः नव मास के बाद ही प्रसूति को पाता है। मंत्र भी कोई लक्ष जाप के बाद तो कोई कोटी जाप के बाद सिद्ध होता है। वनस्पति, पेड आदि भी अपने समय पर ही फलते हैं, हमारे शीघ्रता सर्व प्रयत्न निष्फल होते हैं। कोई चक्रवर्ती या इन्द्रादिकी की हुई सेवा समय के बाद फल को

सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं तब जल्दि ही सिद्ध नहीं हो जाता, निश्चित समय अवश्य होता है। देश के अन्य व्यवहारिक कार्य भी उन का जब काल परिपूर्ण होता है तब ही फलते हैं। इसी तरह यहाँ कीयी पूजादि का पुण्य स्वकाल-भवान्तर में ही फलदायी होता है। इस लिए फल देनेवाले पदार्थों के सम्बन्ध में सुज्ञ पुरुषों को आतुरता नहीं रखनी चाहिए।

चिंतामणी आदि पदार्थसमूह ऐहिक तुच्छ फल को देनेवाले हैं इस से वे परभव में नहीं किन्तु इसी मनुष्य भव में जो प्रायः तुच्छ काल का होता है उस में फलते हैं, जब पूजादि से होनेवाला फल विशाल होता है जो अनन्त काल पर्यन्त भोग में आता रहता है। उस जीव का विशेष काल देवादि सम्बन्धी भवान्तरों में जाता है इस लिए पूजादि के पुण्य का फल प्रायः भवान्तर में उदय में आता है। अगर इसी भव में उस का फल हो तो मनुष्य जीवनकाल स्वल्प होने से तुच्छ काल पर्यन्त वह सुख उपभोग में आता है। और मनुष्य देह नाशवन्त होता है उस से महत्पुण्य का फल भोगते भोगते मृत्यु हो जाने से स्वल्प समय में वह सुखभंग हो जाता

* यह कथन यथाविधि भाव सहित कीयी हुई द्रव्य पूजा के महत्व के उद्देश्य में लेकर के है। सामान्य पूजा का सामान्य फल तो मिल सकता है।

है और मृत्यु जैसी भयदायक और अन्य कोई चीज नहं
है तथा ऐसे महत्पुण्य के भोग के समय ऐसा होना युर
भी नहीं है इन कारणों से पूजादि का पुण्य प्रायः परभ
में फलता है। जैसे अनेक प्रकार के परिश्रम सहन क
के पैदा कीयी हुई चीज अनेक प्रकार से उपभोग में आं
पर भी क्षय नहीं होती ऐसे पूजादि का फल भोगने प
भी प्रायः अन्य जन्म में वह उदय में आता है। क
उग्र पुण्य साक्षात् यहाँ ही फलदायक होता है। देखो
संसार में कहा जाता है कि जो सत्यवादी होता है व
कैसे भी दिव्य में से (भयंकर प्रतिज्ञा) कंचन की तर
शुद्ध निकल जाता है। जैसे कोई शुद्ध सिद्धपुरुष को य
साधुपुरुष को स्वल्प भी दिया हो तो सकल पदार्थ व
सिद्धि के लिए होता है अर्थात् इस लोक और परलो
के लिए सुख का कारणभूत और अनुक्रम से भवबन्ध
से भी मुक्त होने के लिए साधन होता है। और जै
किसी अनुत्तर (सर्वोत्तम) राजपुत्रादि को किसी सम
स्वल्प भी दिया हो तो देनेवाले की इष्ट सिद्धि होती है
विशेष क्या ? दुष्ट प्रतिपक्षी के प्राणघातक कष्ट में से भ
वह रक्षण करता है इसी तरह किसी समय पूजादि
महत्पुण्य उपार्जन किया हो तो वह इस लोक में औ
परलोक में सत्य सुख की परंपरा प्राप्त करवाने के
समर्थ होता है। शालिभद्र के जीव की

र की तरह एक पुरुष से उपार्जित अति उग्र पुण्य
ौर पाप अनेक जीवों के भोग के लिए भी होता है।
से राजा की सेवा करनेवाला सपरिवार सुखी होता है
और अपराध करनेवाला सपरिवार दुःखी होता है। इस
रह परमेश्वर की पूजादि का पुण्य सर्व प्रकार के स्वार्थों
ो साधनेवाला है इसी लिए प्रत्येक को इस का आदर
करना चाहिए।

रमात्मा के नाम का 'जाप' करने में क्यों प्रवृत्ति
करनी चाहिए?

महापुरुषोंने ऐसी योजना करने में भी बड़ा भारी विवेक
किया है। गृहस्थ वर्ग जो कि समर्थ है वे द्रव्य और
भाव दोनों प्रकार की पूजा के अधिकारी हैं, किन्तु महान्
योगीवर्ग जो कि द्रव्य परिग्रह के बिना ही संसार में रहते
हैं उन के लिए परमात्मा का नाम स्मरण ही सब कुछ
है और इसी से ही उन के सर्व स्वार्थ सिद्ध होते हैं।
जैसे विषवाले जीवों के काटने से मूर्छित प्राणियों का
विष अन्यों से किये हुए गारुड़,—हंस—जांगुली मंत्र के
जाप से नष्ट होता है वैसे हि तत्त्व से अनभिज्ञ जनों के
पाप प्रभु के पुण्य स्मरण से नष्ट होते हैं।

अन्य एक वार्ता भी लोक में प्रसिद्ध है कि—'हुमाय'
(मक पक्षी जो कि अस्थियों को खाता है वह सदा स्व

जीव की रक्षा करता हुआ आकाश में उड़ता है, किन्तु उड़ने के समय जिस पर उस की छाया गिरती है वह राजा होता है। इस दृष्टान्त में हुमाय पक्षी स्वयं नहीं जानता कि मैं किसी पर छाया करता हूँ और वह मनुष्य भी नहीं जानता कि मेरे पर हुमाय पक्षी की छाया होती है। इस तरह प्रसंग में दोनों अज्ञान हैं तथापि हुमाय पक्षी की छाया के महात्म्य के उदय से उस के दरिद्रता नष्ट होती है और वह राजा होता है। ऐसे ही ईश्वर नामस्मरण से पाप क्यों नष्ट न हो? अर्थात् पाप नष्ट होते हैं और जब पाप जाता है तब संपूर्ण रीत्या आत्मशुद्धि होती है और आत्मशुद्धि होने से उत्कृष्टात्मक ज्ञान होता है और ऐसे ज्ञान से फिर कर्मों का नाश होता है। अन्त में कर्मनाश से मोक्षप्राप्ति हो जाने से अक्षयस्थिति, अनंतज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख और एक स्वभावता होती है। संक्षेप में सज्ज्योति जागृत होती है।



प्रतिमा-पूजन के विषय पर विशेष प्रकाश.



श्रीमन्महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजीविरचित १२५ गाथा के स्तवन में से ढाल आठवीं, ९ और १० के सार में से —

प्र० यह मनुष्य जो कहता है कि —" जो केवल दया है वही शुद्ध व्यवहार है, और जो मैं करता हूँ वही शुद्ध करता हूँ " यह उस का कहना क्या वास्तविक है ?

उ० नहीं, यह वास्तविक नहीं है । इस से वह जिनेश्वर महाप्रभु की आज्ञा का उल्लंघन करता है क्यों कि षड्काय से परिपूर्ण इस संसार में केवल दया का पालन कैसे हो सकता है ।

प्र० जिनपूजा यह एक शुभ क्रिया है और वह शुभ भाव का कारण है और भी वह मोक्ष को देनेवाली है उस को वे जो कि अपार आरंभ कहते हैं यह क्या सत्य है ?

उ० यह कहनेवाले अवश्य वक्ता हैं क्यों कि अगर ऐसा ही है तो मुनि को किसी नदी के उल्लंघन में जीवदया कहाँ जाती है। अगर यह कहा जाय कि यतना के साथ नदी को पार करनेवाला जीवदया का पालन करता है तो उन को समझना चाहिए कि जल स्वयं अपकाय है और जहाँ जल है वहाँ वनस्पतिकाय भी है। वनस्पतिकाय है वहाँ तेउकाय है, जहां तेउकाय वहाँ वायुकाय है, जल पृथ्वीकाय पर है और जल में रहनेवाले मत्स्यादि त्रसकाय हैं। इस तरह की नदी पार करते हुए जीवदया कहाँ रहेगी ? कहने का सारांश यह है कि वे जो कि 'केवल दया' कहनेवाले हैं वे आडम्बर करनेवाले हैं क्यों कि मुनि को आशय की विशुद्धि के साथ नदी पार करते हुए हिंसा नहीं होती। यद्यपि नदी में चलते हुए हिंसा अवश्य होती है किन्तु विधिपूर्वक यतना के साथ निर्मल आशय को रखते हुए पार करने से मुनि को हिंसा होती नहीं। इसी तरह विधि योग से शुभ भाव को धारण कर के यतना के साथ पूजन करने से जिनेन्द्र पूजा मोक्ष की कारणभूत होती है।

ज्ञानार्णव में कहा है कि एक मनुष्य विरति के परिणाम में चलता हो किन्तु कदाचित् कोई जीव उस के पैर के वजन से दब कर मृत्युवश हो जावे तब भी चलनेवाले को पाप नहीं है। ऐसे ही जिनपूजा उपयोग के साथ यतनापूर्वक शुभ भाव से कि जाती है। ऐसी पूजा

में अपार आरंभ माननेवाला स्वयं भवजल में डूबता है और दूसरे को भी डूबाता है। जिन क्रियाओं में विषयारम्भ का त्याग होता है वे क्रिया यें सदा भवजल का अन्त करनेवाली होती है। संसार के निमित्तभूत, विषयादि का आरंभ पाप की वृद्धि करनेवाला है किन्तु शुभ आरंभ से अशुभ भाव की निवृत्ति होती है और पाप का क्षय होता है।

जिनेन्द्र प्रभु की पूजा से और कौन कौन से लाभ होते है ?

जिनेन्द्र प्रभु की पूजा से वीतराग देव के गुणों का ध्यान होता है और वीतराग प्रभु के गुण के ध्यानरूपी शुभ भाव से विषयारंभ का भय नहीं रहता इस लिए जिन-पूजा आदि कार्य शुभ आरम्भ स्वरूप हैं और उस में अशुभ भाव की निवृत्ति का बडा भारी गुण है।

(२) प्रतिमा पूजन से विनय होता है और विनय यह एक अन्तरंग तप है इस लिए प्रभु की प्रतिमा का विनय करने से शुभ भाव होता है और शुभ भाव से प्राणी मोक्षगति प्राप्त कर सकता है।

वे लोक जो कि ' पूजा में आरंभ होता है ' ऐसा सोच कर जिनेन्द्र की पूजा नहीं करते वे क्या वास्तविक करते हैं ?

वे अवास्तविक करते हैं। जिनेन्द्र प्रभु की प्रतिमा पूजन

में आरम्भ माननेवाला क्या दान, वंदन, आदेश आदि क्रियाओं को नहीं करता ? और दान करना, वंदन करना आदि क्रियाओं में वायुकायादि की विराधना क्या नहीं होती ? और दानादि प्रवृत्तियों को स्वीकार के बिना क्या वह क्षणभर भी टिक सकता है ? अगर यह कहा जाय कि दानादि प्रवृत्तियाँ करते हुए आशय शुभ होता है, किसी भी जीवविराधना का आशय वहाँ नहीं होता तो हम भी कहते हैं कि जिनेन्द्र पूजा में हमारा भी आशय शुभ ही होता है।

प्र० पुष्पादि जीवों के आरम्भ से पूजा सावद्य–सपाप नजर आती है तब उस में फल कैसे है ?

उ० पुष्पादि जीवों के आरम्भ से पूजा सावद्य–सपाप मालूम होती है किन्तु अनुबन्ध से–उत्तरोत्तर भाव वृद्धि से पूजा निरवद्य–निष्पाप है। कारण यह है कि पूजा के समय में जिनेन्द्र के गुणों का बहुमान होता है और इसी से शुभ ध्यान रहता है और पापकर्म के योग्य मलीनारम्भ की निवृत्ति होती है। और वीतराग प्रभु के बहुमान से भाव निर्मल होते हैं और चित्त की विशुद्धि होती है।

प्र० जिनेन्द्र की पूजा से और क्या लाभ होता है ?

उ० जिनेन्द्र–प्रभु की पूजा–अर्चा–सेवा आदि देख कर भव्य जीवों के शुभ भाव उल्लास को पाते हैं और ऐसे शुभ

भावों से षट्‌काय के रक्षक होकर वे भवजल को पार कर जाते हैं।

प्र० कारणवशात् मुनि को जल में गमन करते हुए, जल में तैरनेवाले जल–जीवों की, दया भावना के परिणाम क्या निष्फल हैं?

उ० नहीं, मुनि के नदी को पार करते हुए दया के परिणाम निरर्थक नहीं है और ऐसे ही श्रावकादि को पूजा के समय पुष्पादि जीवों के दया के परिणाम निरर्थक नहीं है।

प्र० अगर जिनेन्द्र–पूजा निरवद्य है तो मुनिवर्ग क्यों नहीं करता?

उ० जिनपूजा यह रोगीजन को औषध के समान है। गृहस्थ श्रावकवर्ग मलीनारम्भरूपी रोग से ग्रसित है। यह मलीनारम्भरूपी रोग की शान्ति के लिए शुभ आरम्भ स्वरूप जिनवर पूजा औषध के समान है किन्तु मुनिवर्ग संपूर्ण सावद्य क्रियायों से निवृत्त होते हैं उन को मलीनारम्भादि कोई रोग नहीं तो फिर औषधरूपी पूजा की क्या आवश्यकता?

प्र० मुनिमहाराजों को और श्रावक को कौन से 'स्तव' हितकर है?

उ० मुनिमहाराजों को 'भावस्तव' कहा है क्यों कि द्रव्यस्तव में सावद्य क्रिया रहती है और वह मुनियों के [illegible]

कर है। गृहस्थ-श्रावक को 'द्रव्यस्तव' और 'भावस्तव' केवल श्रावक को ही हितकर है। मुनियों के लिए वह हितकर नहीं है।

प्र० 'ज्ञाताधर्मकथा' में प्रभु श्री महावीरस्वामीने जिनपूजा के विषय में क्या कहा है ?

उ० उस में श्री प्रभु महावीरने कहा है कि सूर्याभदेव की तरह द्रौपदीने भाव से जिनेन्द्र प्रतिमा की पूजा कि थी।

प्र० क्या द्रौपदी श्राविका थी ?

उ० हाँ, द्रौपदी शुद्ध श्राविका थी और इस के लिए दृष्टान्त है। किसी समय नारदजी उन के घर आये थे किन्तु नारदजी असंयती होने से धर्म के मर्म की ज्ञाता द्रौपदी खडे होने के बजाय अपने स्थान पर बैठी रही थी। जो शुद्ध सम्यक्त्व धारण करनेवाले होते हैं वे जिनेश्वर देव को या उन के भाषित धर्म को या साधु मुनिराज को ही नमस्कार हैं, अन्य किसी को वे नमन नहीं करते। सुश्राविका सुलसा को छल करने के लिए देवने अनेक रूप किये, सिंहासन और 'त्रिगडा' बनाया किन्तु वह अपने सम्यक्त्व में पदभाव भी च्युत न हुई। तात्पर्य यह है कि वे जो कि शुद्ध सम्यक्त्व क पालक होते हैं वे कभी असंयत को नमस्कार नहीं करते और द्रौपदीने भी ऐसा ही किया था इस से सिद्ध होता है कि वह शुद्ध श्रद्धा को

धारण करनेवाली श्राविका थी । और भी उसने जिन-प्रतिमा के सामने शक्रस्तव—नमुत्थुणं भावपूर्वक कह कर उन के गुण गाये थे । अगर वह श्राविका न होती तो ऐसा न करती ।

श्री कल्पसूत्र में सिद्धार्थ नृपतिने याग—यज्ञ किये थे ऐसा उल्लेख है, यहाँ याग शब्द का क्या अर्थ है ?

याग शब्द का अर्थ पूजा होता है । अन्य मत के मानने-वालों में इस का अर्थ पशु आदि के होमने से पूजा करना होता है और इसी कारण से वे यज्ञ शब्द के अर्थ को अच्छी तरह से नहीं समजते । ' यज्ञ ' शब्द का अर्थ ' पूजा ' होता है क्यों कि यजी देवपूजा—संगति करण दानेषु " यज् " धातु देव की पूजा करनी, संगति करनी और दान देना इस अर्थ में आता है । "याग" शब्द "यज्" धातु से हुआ है इस लिए याग का अर्थ पूजा ऐसा होता है, और सिद्धार्थ राजा शुद्ध श्रावक थे और शुद्ध श्रावक कभी पशु होमादि से यज्ञ नहीं करते ।

देव धार्मिक नहीं होते यह क्या सत्य है ?

नहीं, यह असत्य है और ऐसा कहनेवाले दृढतर कर्म बाँधते हैं । सूर्याभ सुरराजने अन्य देव—देवीयों के साथ अपने विमान में रहे हुए सिद्धायतन में जाकर भाव सहित वीतराग—प्रभु की प्रतिमा की पूजा कियी थी ।

प्र० कोई कहता है कि–पूजादि द्रव्यस्तव में शुभ परिणाम से पुण्यबन्ध होता है किन्तु उस में खास कोई धर्म मालूम नहीं होता और व्रत करने से जैसे मन आनंदित होता है वैसा उस में कुछ भी नहीं होता। कारण यह है कि–व्रत में आरंभ नहीं है और पूजादि में आरंभ होता है। और भी जहाँ तक कर्म होते हैं वहाँ तक जीव को संसार में भ्रमण करना होता है और पापप्रकृति भी कर्म हैं वैसे ही पुण्यप्रकृति भी कर्म हैं और दोनों के क्षय के बिना–शुभ और अशुभ कर्मों के क्षय के बिना आत्मा मोक्ष में नहीं जा सकता। धर्म उसको कहते हैं कि जिस में आत्मा विभाव स्वभाव का–आत्मरमण से भिन्न स्वभाव का त्याग कर के खुद के–स्वस्वभाव में रमण करता है। पुष्पादि के आरंभ से होती पूजा में आत्मा विभाव स्वभाव में रहता है इस से धर्म होता नहीं इस लिए पूजादि द्रव्यस्तव आदर करने योग्य नहीं है, किन्तु निरारंभी व्रत परिणाम में आत्मा स्व–स्वभाव में मग्न रहने से उस व्रत के परिणाम से–भावस्तव से धर्म होता है। इस लिए संक्षेप में द्रव्यस्तव के बजाय भावस्तव ज्यादा आदरणीय है ?

उ० यह वार्ता योग्य नहीं है। ऐसा कहनेवाले धर्म के मर्म को सचारुरूप से समजते नहीं है क्यों कि निश्चयधर्म शैलेषी करण के अन्त में अर्थात् १४ वें गुणस्थानक के अन्त में

में कहा है कि निश्चय धर्म अधर्म का क्षयकर्ता है और मोक्ष सुख को देनेवाला है और वह निश्चयधर्म धर्म और अधर्म-पुण्य और पाप के क्षय के कारणभूत है। अब वह शैलेषी के चरम समय में होनेवाले निश्चयधर्म का जो जो साधन -खुदखुद के गुणस्थानक को आश्रय कर के रहे हैं वे " व्यवहार धर्म " कहलाते हैं जैसे "वर्षति पर्जन्यः" " मेघ बरसता है " यहाँ वास्तविक रीति से देखने पर ज्ञात होगा कि-मेघ बरसता नहीं किन्तु मेघ में रहा हुआ जल बरसता है, किन्तु कार्य कारण के अभेद उपचार से " मेघ बरसता है " ऐसा कहा जाता है वैसा ही " व्यवहार धर्म " कहलाता है किन्तु वह निश्चय धर्म की साधना का ही कारण है। बादल और जल जैसे अभिन्न हैं वैसे ही व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म अभिन्न हैं क्यों कि कार्य-कारणभाव सदा अभिन्न ही रहते हैं। तब फिर जैसे व्रत प्रत्याख्यानादि व्यवहार धर्म हैं वैसे ही पूजादि भी व्यवहार धर्म में ही हैं। इस लिए व्रत-प्रत्याख्यान धर्म समजना और पूजादि द्रव्यस्तव में धर्म नहीं समजना यह केवल मूर्खता ही है।

प्र० शुभाशुभ विभाव परिणाम अर्थात् क्या ?

उ० शुभ विभाव परिणाम वह पुण्य और अशुभ विभाव परिणाम अर्थात् पाप यह समजना चाहिये।

प्र० पुण्य कब होता है और निर्जरा (देश से कर्मों का क्षय) कब हो सकती है ?

उ० किसी भी सत्कार्य को फल की चाहना के सिवाय और निष्काम बुद्धि से और शुद्ध आत्मपरिणति से किया हो तो कर्म का क्षय होता है और फल की चाहना से और परिणाम की आशा से किया हो तो पुण्य होता है। और इस लिये ही 'जय वीयराय' सूत्र में लिखा है कि-"वारिज्ज जइ वि नियाण-बंधणं वीयराय तुह समये" हे प्रभु वीतराग देव ! तेरे सिद्धान्त में नियाणा का (फल की इच्छा से) निषेध किया है। और भी गीता में श्रीकृष्णने अर्जुन को कहा है कि–हे अर्जुन ! "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" हे अर्जुन ! प्रत्येक कार्य में कर्म करने का तेरा अधिकार है, फल की चाहना न करना। इसी से ज्ञात होता है कि प्रत्येक सत्कार्य आसक्ति रहित करने चाहिये जिस से शुभ विभाव परिणाम नहीं हो और उस से पुण्य न बंधते हुए कर्म की निर्जरा हो जाय।

संक्षेप में प्रत्येक सत्कार्य को फल की चाहना से रहित करने चाहिए जिस से अशुभ कर्मों का क्षय हो जाता है। फल की इच्छा से सत्कार्य करने से शुभ कर्मों का उदय होता है और इस से शुभ विभाव कर्म बंधते हैं अर्थात् पुण्य कर्म बंधता है जिस को फिर भोगना पड़ता है। पाप एक लोहश्रृंखला है जब पुण्य भी सुवर्ण की -

है इस लिए आत्महितार्थी जनों को चाहिए कि सत्कार्य हमेशां निष्काम बुद्धि से और फल की चाहना से रहित करें जिस से शुभ विभाव परिणाम हो नहीं ।

प्र० श्री ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से धर्म कैसे समजना चाहिये ?

उ० श्री ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से जब तक आत्मा का शुद्ध उपयोग स्वभाव रहता है तब तक धर्म और जब तक शुभ और अशुभ विभाव परिणाम रहता है तब तक पुण्य और पाप समजना चाहिए ।

प्र० एवंभूत नय की अपेक्षा से धर्म कैसे समजना चाहिए ?

उ० आत्मा का स्व-स्वभाव परिणाम वही एवंभूत नय की अपेक्षा से धर्म कहा जाता है ।

प्र० जिन पूजा में मन-वचन और काया के शुभ योग से द्रव्याश्रव होता है इस से क्या स्व-परिणामरूप धर्म नष्ट होता है ?

उ० नहीं, उस से स्व-परिणामरूप धर्म नष्ट नहीं होता । जब तक आत्मा की योगक्रिया बंध नहीं हुई है तब तक आत्मा योगारंभी है । किन्तु जिन क्रियाओं के करने से स्व-स्वभाव-परिणतिरूप आत्मिक धर्म नष्ट होता हो उन को नहीं करना चाहिए किन्तु वीतराग के पूजादि से तो आत्मिक धर्म की पुष्टि होती है फिर उस का आदर क्यों नहीं करना ? तात्पर्य यह है कि जिनपूजा से द्रव्याश्रव होता है तथापि वह आत्मिक धर्म को पुष्ट करनेवाली

होने से सर्वदा आदरणीय है। जब तक मन, वचन और कायायोग की क्रियायें बंध नहीं हुई है तब तक वे शुभ और अशुभ मार्ग को अवश्य आवेगी तब फिर उन तीनों योगों को जिनपूजारूप शुभ मार्ग में श्रावक को परिणत करने के लिए कौन मनाई करेगा ?

प्र० श्रावक को किस कारण से जिनपूजा अवश्य करनी चाहिए ?

उ० श्रावक मलीनारंभी–असत् आरम्भी है अर्थात् वह सावद्य व्यापार का आरम्भ करनेवाला है इस लिये उस को जिन-पूजा अवश्य करनी चाहिए।

प्र० कोई कहे कि द्रव्यस्तव से पुण्य होता है जिस से स्वर्ग मिलता है किन्तु मोक्ष नहीं मिलता तो द्रव्यस्तव क्यों करना चाहिए ?

उ० 'द्रव्यस्तव' अवश्य करना चाहिए। द्रव्यस्तव, भावस्तव का कारण होने से तथा आत्मिक धर्म को पैदा करनेवाला होने से उस का अवश्य आदर करना चाहिए। सराग *संयम स्वर्ग का कारण है मगर उस को उपादेय क्यों समजा ?*

प्र० द्रव्यस्तव यह अप्रधान स्तव है तब उस को छोड कर भाव-स्तव क्यों न करना चाहिये ?

उ० द्रव्यस्तव–पूजादि से भावस्तव–चारित्र्य की प्राप्ति होती है। इस द्रव्यस्तव का द्रव्य शब्द अप्रधान अर्थ में नहीं किन्तु कारण अर्थ में समजना चाहिए इस लिए द्रव्यस्तव भावस्तव का कारण होने से अवश्य आदरणीय है।



नयरेखादर्शन[1].



प्रश्नोत्तरावली ।

प्र० नय अर्थात् क्या ?

उ० नय का अर्थ आंशिक (अंशतः) सत्य है । अनेक धर्म-युक्त वस्तु में किसी एक धर्मविषयक जो अभिप्राय होता है उस को जैन शास्त्रों में नय की संज्ञा दीयी है ।

प्र० निश्चय नय का क्या अर्थ है ?

उ० वह दृष्टि जो कि वस्तु की तात्त्विक स्थिति को, अर्थात् वस्तु के मूल स्वरूप को स्पर्श करनेवाली है उस को निश्चय नय कहते हैं ।

प्र० व्यवहार नय अर्थात् क्या ?

१ यह लेख आत्मानन्द प्रकाश के पु. २८ अंक २ ...

उ० वह दृष्टि जो कि वस्तु की बाह्य अवस्था के प्रति लक्ष को आकर्षित करती है उस को व्यवहार नय कहते हैं।

प्र० नय की विशिष्ट व्याख्या कहो !

उ० अभिप्राय को दर्शानेवाले शब्द, वाक्य, शास्त्र या सिद्धान्त सब ही को नय कह सकते हैं।

प्र० नय को संपूर्ण सत्य मान सकते हैं कि नहीं ?

उ० नय को संपूर्ण सत्य नहीं मान सकते।

प्र० नय कितने हैं ?

उ० उस की गणना नहीं हो सकती।

प्र० यह कैसे समज सकते हैं ?

उ० अभिप्राय या वचन समुदाय जब गणना से परे हैं तब नय उन से अभिन्न होने से उन की भी गणना नहीं हो सकती।

प्र० द्रव्य किस को कहते हैं ?

उ० मूल पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।

प्र० पर्याय किस को कहते हैं ?

उ० द्रव्य के परिणाम को पर्याय कहते हैं।

प्र० किसी वस्तु का समूल नाश और अपूर्व उत्पाद क्या हो सकता है ?

उ० नहीं।

प्र० नयाभास अर्थात् क्या ?

उ० अमुक धर्म को ग्रहण कर के अन्य सर्व धर्मों को जो तिरस्कृत करता है वह नयाभास कहा जाता है।

प्र० नय कितने हैं ?

उ० सात हैं।

प्र० इन के क्या नाम हैं ?

उ० १ नैगम, २ संग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरुढ, ७ एवंभूत.

प्र० सात नयसमुदाय में कितने द्रव्यास्तिक कहे जाते हैं और कितने पर्यायास्तिक कहे जाते हैं ?

उ० प्रथम के चार द्रव्यास्तिक नय हैं और बाकी के तीन पर्यायास्तिक नय हैं।

प्र० नैगम नय किस को कहते हैं ?

उ० सामान्य और विशेष आदि ज्ञान से वस्तु को नहीं मानता किन्तु सामान्य-विशेष आदि अनेक रूप से वस्तु को स्वीकार करता है वह नैगमनय कहलाता है जैसे मैं लोक मे रहता हूँ।



सामान्य विशेष रूपकी समज.



कोई प्रश्न करता है कि—'आप कहाँ रहते हैं' ? । तब सामनेवाला जवाब देता है कि—'लोक में', फिर प्रश्न होता है कि—" कौन से लोक में रहते हो " । उत्तर मिलता है कि—' भरतखण्ड में ' । फिर प्रश्न होता है "कौन से देश में रहते हो" । जवाब दिया जाता है कि—' गुजरात में ' इस तरह नैगम नय सामान्य विशेषादि ज्ञान से वस्तु को नहीं मानता किन्तु आगे लिखने के मुताबिक सामान्य विशेषादि अनेक रूप से वस्तु को मानता है । सामान्य होता है वह विशेष होता है और विशेष वह सामान्य होता है । इस तरह सामान्य विशेष के अनेक रूप से वस्तु को मानता है । और भी यह नय अंशग्राही होने से देश को (अंश) भी संपूर्ण सत्य मान लेता है । और भी यह नय संकल्प कल्पना को भजनेवाला है इस लिये कल्पना से भी वस्तु का व्यवहार करता है और वह

रूप से नहीं किन्तु आगे बतलाने के मुताबिक अनेक रूप से वस्तु का स्वीकार करता है ।

प्र० इस नय के कितने प्रकार हैं और वे कौन कौन से ?

उ० उन के तीन प्रकार हैं । (१) भूत (२) भविष्य (३) वर्तमान

प्र० भूत नैगम किस को कहते हैं ?

उ० भूत नैगम अर्थात् भूत वस्तु का वर्तमानरूप से व्यवहार करना वह । जैसे—यह वही दीवाली (दीपावली) का दिन है जिस दिन श्रीप्रभु महावीर निर्वाण को पाये थे ।

प्र० भविष्य नैगम क्या है ?

उ० होनेवाली वस्तु को हुई कहना । जैसे—चावल अच्छी तरह से न पके हो और पके हैं ऐसा कहना वह भविष्य नैगम नय है ।

प्र० वर्तमान नैगम किस को कहते हैं ?

उ० क्रिया का आरम्भ न हुआ हो किन्तु सर्व तैयारियाँ को देख कर 'हुई है' ऐसा कहना ।

प्र० संग्रहनय किस को कहते हैं ?

उ० सम् अर्थात सम्यक् प्रकार और ग्रह अर्थात् ग्रहण करना । जो सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया है उस को संग्रहनय कहते

हैं। संग्रहनय में सामान्य की मान्यता है किन्तु विशेष की नहीं है। उस की व्याख्या निम्न लिखित है —

सामान्य रूप से सर्व वस्तुओं को खुद में अन्तर्गत करता है, अर्थात् सामान्य ज्ञान के विषय को कहता है।

प्र० व्यवहार नय किस को कहते हैं ?

उ० इस नय में विशेष धर्म की मुख्यता है क्यों कि अगर आम्रादि फल विशेष न कहते हुए फल कहने से वह कौनसा फल लावेगा। इस लिए यह नय सामान्य को न स्वीकारता हुआ विशेष को ही मान्य करता है।

प्र० ऋजुसूत्र नय किस को कहते हैं ?

उ० यह नय वर्तमान समयग्राही है। वस्तु के नये नये रूपांतरों की ओर हमारे लक्ष्य को खिंचता है। दृष्टान्त—जैसे सुवर्ण के कंकण—कुण्डल आदि पर्यायों को यह नय देखता है किन्तु मूल द्रव्य की ओर वह दृष्टिपात नहीं करता और इसी लिये पर्याय विनश्वर होने से इस नय की अपेक्षा से सदा द्रव्य कोई नहीं है।

प्र० शब्द नय का क्या स्वरूप है ?

उ० शब्दनय अर्थात् अनेक पर्याय शब्दों का अर्थ स्वीकार करना, यह इस नय का काम है। जैसे—इन्द्र को शक्र, पुरन्दर आदि नाम से कहता है वह शब्द नय है।

चीर, अम्बर आदि शब्दों का एक ही अर्थ है ऐसा यह नय समजता है।

प्र० समभिरुढ नय किस को कहते हैं ?

उ० एक वस्तु का संक्रमण जब अन्य किसी वस्तु में होता है तब वह अवस्तु हो जाती है। जैसे 'इन्द्र' यह शब्दरूप वस्तु का संक्रमण 'शक्र' शब्द में होता है तब इन्द्रवाचक शब्द भिन्न हो जाता है अर्थात् इन्द्र शब्द का अर्थ ऐश्वर्यवान, शक्र शब्द का अर्थ सामर्थ्यवान और पुरंदर शब्द का अर्थ शत्रु के नगरों का नाश करनेवाला होता है। ये सब ही शब्द इन्द्रवाचक है किन्तु अर्थभेद से वे भिन्न भिन्न हैं ऐसा समभिरुढ नय स्वीकार करता है।

प्र० एवंभूत नय किस को कहते हैं ?

उ० स्व कार्य को करती हुई साक्षात् वस्तु को वस्तुरूप से मानना चाहिए जैसे 'घट' शब्द, इस में 'घट' यह प्रयोजक धातु है और इस का अर्थ चेष्टा करना यही है अर्थात् जब 'घट' जलहरण आदि में प्रवृत्त होता है तब ही उस को घट कह सकते हैं अन्यथा नहीं एसा इस नय का मन्तव्य है।



॥ अथ एकविंशोऽधिकारः ॥

अमुं विचारं मुनयः पुरातना, ग्रन्थेषु जग्रन्थुरतीव विस्तृतम् ।
परं न तत्र द्रुतमल्पमेधसा- *मैदंयुगीनानां मतिः प्रसारिणी ॥१॥
मया परप्रेरणपारवश्या-दजानतापीति विधृत्य धृष्टताम् ।
प्रश्ना व्यतायन्त कियन्त एवे, परेण पृष्टाः पठितोत्तरोत्तराः ॥२॥
शैवेन केनापि च जीवकर्मणी, आश्रित्य पृच्छाः प्रसभादिमाः कृताः
माभूज्जिनाधीशमतावहेले-त्यवेत्य मङ्क्षूत्तरितं मयैवम् ॥ ३ ॥
यथा यथा तेन हृदुत्थतर्क-माश्रित्य पृच्छाः सहसाऽक्रियन्त ।
तथा तदुक्तं पुरतो निधाय, मया व्यतार्युत्तरमाहृतेन ॥ ४ ॥
मया त्विदं केवललौकिकोक्ति-प्रसिद्धमाधीयत पृष्टशासनम् ।
पुराणशास्त्राहितबुद्धयस्तु, पुरातनीं युक्तिमिहाद्रियन्ताम् ॥ ५ ॥
परं विचारेऽत्र न गोचरो मे, प्रायेण मुह्यन्ति मनीषिणोऽपि ।
अमुं विना केवलिनं न वक्तुं, व्यक्तोऽपि शक्तः सकलश्रुतेशी ॥६॥
अतस्तु वैयात्यमिदं मदीय-मुदीक्ष्य दक्षैर्न हसो विधेयः ।
बालोऽपि पृष्टो निगदेत्प्रमाणं, वार्धेर्भुजाभ्यां स्वधिया न किं वा ॥७॥
यद्वेदमेवास्मधियां समस्तु, शास्त्रं यतः शासनमस्त्यथास्मात् ।
यद्युक्तिप्रत्युक्तिनिर्युक्तियुक्तं, तदाभियुक्ताः प्रणयन्ति शास्त्रम् ॥८॥
यद्वास्ति पूर्वेष्वखिलोऽपि वर्णा-नुयोग एतन्न्यगदन्निदांवराः ।
इयं तदा वर्णपरम्परापि, यत्रास्ति तच्छास्त्रमिदं भवत्वपि ॥९॥

* मैदंयुगीना न ?

श्रनन्दनायास्तिकनास्तिकानां, ममोद्यमोऽयं सफलोऽस्तु सर्वः ।
श्रयेषु चास्तिक्यगुणप्रसारणा-दैन्येषु नास्तिक्यगुणापसारणात् ॥
चिरं विचारं परिचिन्वताऽमु, यन्न्यूनमन्यूनमवादि वादवः ।
श्रनाभोगा भ्रमसम्भ्रमाभ्यां, तन्मे मृषा दुष्कृतमस्तु वस्तुतः ॥
मया जिनाधीशवचस्सु तन्वता, श्रद्धानमेवं य उपार्जि सज्जनाः ।
धर्मस्तदेवेन निरस्तकर्मा, निर्मातशर्मोऽस्तु जन समस्तः ॥ १२ ॥
श्रीखरतरगणधरयुगवर-जिनराजसूरिसाम्राज्ये ।
तत्पट्टाचार्यश्रीजिन-सागरसूरिषु महत्सु ॥ १३ ॥
श्रमरसरसि वरनगरे, श्रीशीतलनाथलब्धसान्निध्यात् ।
ग्रन्थोऽग्रन्थि समर्थः, सुविदेऽयं सूरचन्द्रेण ॥ १४ ॥ युग्मम् ॥
श्रीमत्खरतरगण-सुरगिरिसुरशाखिसन्निभः समभूत् ।
जिनभद्रसूरिराजो-ऽसमः प्रकाण्डोऽभवत्तत्र ॥ १५ ॥
श्रीमेरुसुन्दरगुरुः पाठकमुख्यस्ततो बभूवाथ ।
तत्र मैत्रीयैःशाखा-प्रायः श्रीशान्तिमन्दिरकः ॥ १६ ॥
तार्किकरूपमा श्रभवन्, हर्षप्रियपाठकाः प्रतिलताभाः ।
तस्यां समभूवन्निह, सुरभिवत्तरुमञ्जरीतुल्याः ॥ १७ ॥
चारित्रोदयवाचक-नामानस्तेभ्यमुः फलसमानाः ।
श्रीवीरकलशसद्गुरवो, गीतार्थाः परमसंविग्नाः ॥ १८ ॥
तेभ्यो वयं भवामो, वीजाभास्तत्र सूरचन्द्रोऽहं ।
गणिपद्मवल्लभपट्टु-र्द्वितीयीको गुरुभ्राता ॥ १९ ॥

---

३७ नास्तिकेषु । ३८ नास्तिकेषु । ३९ मिथ्या । ४० तत्त्वतः । ४१ गत । ४२ मिद ।

यस्तु हीरसार-प्रमुखा अङ्कुरकरणैरैः सन्ति
तेऽपि फलन्तु फलौघैः, सुशिष्य-रूपैः प्रमापद्रुमिः ॥ ३०
तेनासुक्तो पाचकसूरचन्द्र-नाम्ना रसज्ञाफलमित्यभिच्छता ।
ग्रन्थोऽमितोऽमन्थि मया स्वकीया-न्यदीयचेतः स्थिरतोपसम्पदे ।२
एवं यथाशेमुषि जैनतत्त्व-सारो मयाऽस्मारि मनःप्रसत्त्यै ।
यत्सूत्रमासूत्रितमत्र किञ्चिद्, यत्नाद्विशोध्यं सुविशुद्धधीभिः ॥२१
वर्षे नैन्दतुरङ्गचन्द्रिरकलामाने ऽश्वयुक्पूर्णिमा,
[45] योगे विजयेऽहमेतममलं पूर्णं व्यधामादरात् ।
ग्रन्थं पाचकसूरचन्द्रविबुधः प्रश्नोत्तरालङ्कृतं,
साहाय्याद्वरपद्मवल्लभगणेरर्हत्प्रसादश्रिये ॥ २३ ॥

इति जैनतत्त्वसारे जीवकर्मविचारे सूरचन्द्रमनःस्थिरीकारे
ग्रन्थमयनोत्पन्नपुण्यजनतासमर्पणस्वीयगच्छगच्छनायक-
सम्प्रदायगुरुनामस्वकीयगुरुभ्रात्रादिनामकीर्त्तनोत्किलेश
एकविंशोऽधिकारः सम्पूर्णः ।

॥ तत्सम्पूर्णो च परिपूर्णोऽयं जैनतत्त्वसारो ग्रन्थः ॥



४५ समाः ४६ (१६७९) ४७ बुधे। ४८ पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् इति सूरइति सूरनाडी-सूर्यनाडीत्यर्थः चन्द्रइति चन्द्रनाडीत्यर्थः मनइति सुषुम्णा नाडीसूचनं यदन्तर्गतं मनः स्थिरीस्यात्। तथा च हठप्रदीपिका। मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते इति। ततो मन स्थिरीकार इति सुषुम्णोच्यते। आसां नाडीनां स्थिरीकरो यस्मिन्निति चरिथरीकारशब्दात्लापाद्यपेक्षार्थप्राप्तिः. पक्षे ग्रन्थकर्त्तनामसूचनमिति ध्येयम् ॥

आत्मश्रेय होगा। और इसी से ही गुप्तदान की महत्ता ज्यादा है। दया ही मनुष्य का उद्धार करनेवाली है। और वही मुक्ति का द्वार है। तुलसीदास तो पुकार पुकार के कहते हैं कि—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छंडीए, जब लग घट में प्राण॥

सभी तप, जप, यम, नियम, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि और योगादि जो यौगिक प्रवृत्तियाँ हैं वे सभी स्वदया के लिए ही हैं। अर्थात् आत्मा की उन्नत स्थिति के वास्ते ही हैं। उस के पालन से आत्मा का कर्ममल नष्ट हो जाता है। और अन्त में आत्मा परमात्मा हो जाता है। जिसने स्वदया अर्थात् अपने आत्मा को पहचाना है वही यथार्थ अहिंसा का पालन कर सकता है। और वही सच्चा मुमुक्षु है और वही विश्ववंद्य या महात्मा होने लायक है। आत्मा प्रथम कर्मबन्धों से जकड़ जाता है मगर अहिंसा से वह स्वतंत्र हो सकता है—आत्मा का ओजस् प्रगट होता है और उस की सामर्थ्य बढ़ती है। मायिक, पौद्‌गलिक, आसुरी और पाशविक बल ये सब अज्ञानता यानि हिंसामें से पैदा होता है। अहिंसा जितनी प्रबल होती है उतनी ही आसुरी आदि वृत्तियाँ कमजोर होती हैं और आत्मिकसामर्थ्य वृद्धि को पाता है। हिंसाबल वह पशुबल है। अहिंसाबल वह सात्त्विक बल है। रावण बलिष्ठ यानि आसुरी बलों का अधिष्ठाता था

मगर उस को श्रीराम जैसी महा व्यक्ति के आगे हारना पड़ा और समरांगण में अपना अस्तित्व मिटाना पड़ा। इसलिए आसुरीबल चाहे कितना भी क्यों न हो मगर सात्त्विकबल के आगे वह टहर नहीं सकता। मेघाच्छिन्न सूर्य जैसे मेघखण्डों से मुक्त होता है वैसे वैसे उस का तेज वृद्धि को पाता है उसी तरह आत्मा का अहिंसाबल जितना बढ़ता है उतना उस का सामर्थ्य वृद्धि को पाता है। अहिंसावादी हमेशां अपना आत्मा का सामर्थ्य अहिंसा के बल से बढ़ाता जाता है तब हिंसावादी अधर्माचरण से पापकर्म को बढ़ाता है और अज्ञानरूपी अंधकार से अशुभ कर्मों को पैदा कर के निस्तेज होता है। जो अहिंसक हैं, सत्यव्रत के पालक हैं वे दुःख और विपद के बादल उमड आने पर—कष्ट की वर्षा होने पर भी अपने व्रत से तिल भर भी पीछे नहीं हटते थे, वे चुपचाप दुःखों को सहते हैं और दूसरे के कल्याण की भावना करते रहते हैं।

अहिंसा के उच्च तत्त्व आत्मा की उन्नत स्थिति को प्राप्त करने के लिए—परमात्मदशा को पहुंचने के लिए हैं। अतः किसी स्वरूप से किसी विषय में उस को यथास्थित पालन करने में आवे तो अहिंसा के प्रमाण में इच्छित लाभ को बिना दिये नहीं रहते। गुड हमेशां मीठा होता है और जब कभी उस को चक्खो तब वह मीठापन देता है। इसी तरह अहिंसा का कैसा भी पालन हितावह ही होता है। माता भारती के वीरपुत्र महात्मा गांधीजीने जो देश की आझादी के लिए

अहिंसा का अमोघ शस्त्र हाथ किया है और भारत की उन्नति की कुञ्जी हाथ कि है उसी से ही विजय है ऐसी भारत की आज की परिस्थिति देख कर हम कह सकते हैं। हिंसा में हमेशां भय रहता है। भय से मनुष्य कायर हो जाता है और कायर हमेशा पराजय को पाता है। जब अहिंसा में हमेशां निर्भीकता रहती है। निर्भीकता हिम्मत को पेदा करती है और हिम्मतवान हमेशां जय पाता है। हिंसा " पाप के पैसे कभी प्रभुता नहीं लाते " उस की तरह कभी सुख को देनेवाली नहीं होती। उस से पापपुञ्ज का सञ्चय होता है जिस को बिना सहन किये चलता नहीं। इसलिए सत्यशीलों को सत्यपालन के लिए अहिंसा से कभी विचलित होना नहीं चाहिए। सत्यशील पर आफतें आती है, संकट की आँधी उस को परेशान करती है, जान का खतरा भी हो जाता है मगर वह कभी-क्रोध नहीं करता, गुन्हेगार की ओर प्रेम की निगाह से देखता है और उन की अज्ञानता के लिए वह अफसोस करता है। श्री वीरप्रभु को जब चंडकौशिक काटता है और विषवर्षा करने पर महाप्रभु को अविचलित देख कर फिर काटता है तब महाप्रभु करुणामयी आर्द्र वाणी से कहते हैं—" चंड-कौशिक! शान्त हो, शान्त हो। " वैरी के सामने ऐसी क्षमा को धारण करनेवाले ही विश्ववंद्य हो सकते हैं और वे ही सच्चे क्षमाशील और अहिंसक हैं। एक समय गजसुकुमाल मुनि अपने श्वशुर के ग्राम में भ्रमण करते हुए पधारे। अचानक उन दोनों की हुई। मगर श्वशुर के दिल में मुनिवर्य

को देख कर वैराग्नि भड़कने लगी। "इसी दुष्टने मेरी बेटी का त्याग किया है और उस बिचारी को परेशान कि है" एसा विचार कर के मुनिवर्य जब तपश्चर्या में थे तब उन के मस्तक पर आग से भरी सिगडी रख दी। मुनिजी शोचने लगे- "अहा! यह सज्जन मेरे कैसे उपकारी है! संसार में तो उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं दिया मगर आज तो उन्होंने मेरे शीर पर मुक्ति का ताज पहिना दिया।" कैसी उदात्त भावना? इस तरह जब बिलकुल अहिंसक वृत्ति पैदा होती है और संकट की झड़ियाँ बरसने पर भी जो कभी क्रोध नहीं करता और दयाकी भावना करता है तब ही वह महापुरुष हो सकता है और वह जगद्वंद्य हो सकता है। जिन्होंने कर्म का स्वरूप पहचाना है, आत्मशक्ति और सामर्थ्य का अनुभव किया है वे तो समजते हैं कि जितने जड कर्म नष्ट होंगे उतनी अज्ञानता का लोप होगा। जितनी पाशवृत्ति कम होगी उतनी आत्मप्रभा ज्यादह फैलेगी। जितना संयम ज्यादह होगा उतना ही आत्मसामर्थ्य ज्यादह होगा। इस लिए इस भव में, परभव में या भवोभव में भी कभी हिंसा का आश्रय नहीं लेना चाहिए। उस का संकल्प भी छोड़ना चाहिए। उस में भी जो व्रतधारी हैं, सत्यव्रत के पालक हैं उन को तो सत्य के लिए शारीरिक कष्टों को हँसते हँसते सह लेना चाहिए। और हिंसा का कभी आचरण करना नहीं चाहिए। आत्मा तो अमर है। वह कभी मरता नहीं। शरीर तो वस्त्रादिक की तरह अनित्य है। आत्मा सहस्रों भव-रुप बंधो में फँसता आया है और जब तक सत्यमार्ग को

क्षमाशीलता का आदर्श दृष्टांत



श्री गजसुकुमार

हिंसा होती है। और आत्महिंसा का फल संसार में अनन्त समय तक चक्कर लगाने का होता है। और आत्महिंसा के त्याग के सिवाय कल्याण की आशा आकाशकुसुम के बराबर है। यह लिखने का आशय केवल यही है कि हरएक को अहिंसा पालन में सावधान रहना चाहिए, अपनी आत्म-हिंसा न हो उस की हमेशां चिंता रखना चाहिए, जिस से मनुष्यभव की सार्थकता हो जाय।

अहिंसापालक मर्द ही होता है। कायर या अधम लोग उस को स्पर्श भी नहीं कर सकते। मारना हरएक जानता है मगर मरना कम जानते हैं। दूसरे की खातर प्राण विसर्जन करना यही आत्म-सामर्थ्यवान का कर्तव्य है। और सत्य के खातर ही समर्पण करने में आत्मविभूति है। हमारे कितनेक गुर्जरसाक्षर भाई जैनों की अहिंसा को अनादर की दृष्टि से देखते हैं मगर वार्त्तमानिक परिस्थिति को देख कर वे समज गये होंगे कि अहिंसा क्या चीज है? अहिंसा का पालन कौन कर सकता है? निर्बल या सबल?। हमारे सुभाग्य से, देश और विश्व के सौभाग्य से आज वह परम धर्म जगप्रसिद्ध हो गया है। और अन्त में प्रभु महावीर के इस अमोघ धर्मोपदेश से जगत् अपना कल्याण करे यही हमारी इष्टदेव को विनति है।

——卐——



विज्ञान विषयक.

जैनदर्शन जैसे अपने सर्वमान्य सिद्धान्तों से सर्वोत्तम है वैसे उसने विज्ञान के गहरे प्रदेश में भी अच्छा सा प्रकाश डाला है और इस से वह सर्वज्ञकथित है ऐसा भी दावे के साथ कह सकते हैं।

उत्तराध्ययन आदि महान् आगमों के ग्रंथ में श्री गौतमस्वामी भगवन्त श्री महावीरस्वामी को प्रश्न करते हैं कि—" हे प्रभु ! बालक माता के उदर में कैसे रहता है ? क्या आहार करता है ? " ऐसे ऐसे गूढ प्रश्न उन्हों ने पूछे हैं जिनके जवाब प्रभुने बहुत अच्छी तरह से दिये हैं। डोक्टरी अभ्यास कों को भी मेरी सलाह है कि उन को भी किसी अच्छे जिना-

गमज्ञ के पास जिनागमों को देखना चाहिए। मैं कोई आगमों का अभ्यासी नहीं या कोई विद्वान् नहीं, परन्तु जो कुछ पढ़ने में आया उस का अंशमात्र यहाँ देता हूँ। इस परसे पूज्य अर्हतोंने विज्ञान विषयक क्या २ कहा है वह भी मैं नहीं कह सकता। केवल विज्ञानवेत्ताओं को कोई अच्छे आगमज्ञ के पास उस को पढ़ने की जरुरत है। इतना ही कहना यहाँ काफी होगा।

यह तो प्रत्येक को सुविदित है कि प्राचीन समय में आज की तरह सूक्ष्मदर्शक यंत्र नहीं थे और वे निःस्पृहियों को उन की आवश्यकता भी न थी। जिस का दिव्यज्ञान विकसित है, जो इन्द्रियातीत ज्ञान के धारक हैं, जो सर्वज्ञ हैं वे अपने ज्ञानसे सब कुछ देख सकते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य उन की नजरों के सामने होता है।

अब जैनदर्शनकथित विज्ञान की रूपरेखा यहाँ देता हूँ।

(१) जल के एक बिन्दु में असंख्य जीव हैं ऐसा जैनशास्त्र कहता है। उस में तो यहाँ तक लिखा है कि अगर वे जल के एक बिन्दु के जीव अगर कपोत के जितनी देह धारण करें तो जम्बूद्वीप में वे रह नहीं सकते।

इस विषयक चर्चा जब मैंने नृसिंहाचार्य की तरफ से प्रकाशित "महाकाल" नामक मासिक से पढी तब मुझ को ज्यादह विश्वास हुआ। नृसिंहाचार्य के संप्रदाय की ओर से प्रथम वह

मासिक प्रगट होता था और श्रीयुत छोटालाल जैसे वाहोश, विद्वान् और साक्षर के मंत्रीत्व में प्रकाशित होता था। वह मासिक गुजरात में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चूका था।

(२) वनस्पतिकाय को जैनशास्त्र एकेन्द्रिय जीव मानता है। जिसका निर्णय प्रो. बोझने प्रयोगों से जगत को कर दिखाया है और सिद्ध भी किया है कि जैसे अपने को सुख दुःख होता है उसी तरह उसको भी होता है। मनुष्य के सदृश कितनेक गुण वनस्पति में भी है। 'हास्यवन्ती' हसती है, 'रुदन्ती' रुदन करती है, लज्जावन्ती शरमाती है। इस तरह वनस्पति भी भिन्न भिन्न गुणयुक्त नजर आती है। जैनशास्त्र पृथ्वि-अप-तेउ-वायु और वनस्पति आदि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक-अर्थात् समस्त संसारी जीवों में आहार-निद्रा-भय और मैथुन ये गुण सामान्यतया मानता है।

(३) कंदमूल आदि अभक्ष्य अनन्तकाय हैं। रजस् और तामस् गुण के पोषक हैं। कारण यह है कि वे जमीन में पैदा होते हैं और वहाँ सूर्य का प्रकाश पहुँच नहीं सकता। इस लिए उस में जीव होते हैं। इस बात का समर्थन सायन्स भी करता है। और इसी कारण से जैनशास्त्र उस को अभक्ष्य मानता है। आत्मार्थी जीव को तो वह अवश्य छोड देना चाहिए। पुराणों में भी उस का अच्छा उल्लेख है मगर शास्त्रों को देखने की किस को गरज है? कंदमूलादि अभक्ष्य पदार्थ विषयपोषक होते हैं। कितनेक चरबी-मेद को बढानेवाले होते हैं। कितनेक

तामसिक प्रकृति की वृद्धि करनेवाले होते हैं। संक्षेप में वे तामसिक व राजसिक प्रकृत्ति के पोषक होने से धर्माचार्योंने उस का निषेध किया है।

आलू यह चरबी को बढानेवाला है ऐसा अभिप्राय एक अमेरिकन ने हाल में ही दिया है और यह अभिप्राय अमेरीका में प्रकाशित "फीज़ीकल कल्चर" नामक इंग्लीश मासिक में (जिस की एक लक्ष प्रतियाँ निकलती हैं) आया है जिस का अवतरण हम यहाँ देते हैं।

Mr. L. M. Hainer writes in Physical Culture " February 1928 ":—" In my case I discovered that by eluminating from my Meals white bread and potatoes, I could take off the excess fat which was slowing me up "

फीज़ीकल कल्चर में मी. एल. एम. हेनर १९२८ के फेब्रुआरी के अंक में लिखते हैं कि खोराक में से मैंदे की रोटी और आलू को छोड देने से मैं अपनी ज्यादह चरबी को कम कर सका हूँ जिस से मैं परेशान था और जो मेरे प्रत्येक कार्य में आलस्य को लाती थी।

(४) जैनशास्त्र कहता है कि पुरुष के एक दफा के स्त्रीसंभोग से नव-लक्ष जीवों का नाश होता है।

इस के समर्थन में वार्त्तमानिक विज्ञानशास्त्र क्या कहता

है वह देखें। अमेरीका से प्रकाशित 'फीझीकल कल्चर' के १९२८ के फेब्रुआरी के अंक में ८६ नंबर के पन्ने में इस तरह लिखा है।

"It is estimated that a vigorons healthy man leading a moral life develops from one to two million spermatozoa at a time."

ऐसी गिनती करने में आई है कि नियमित जीवन और तंदुरस्तीवाले पुरुष के वीर्य में एक साथ १० से २० लक्ष तक 'स्पर्मेटोझाश्रा' (मनुष्य के जीव बीज) पैदा होते हैं।

(९) आकाश द्रव्य अरुपी है। 'अवकाश प्रदान' यह उस का धर्म है। मगर नैयायिक उस को शब्द का गुण मानते हैं, जिस का विरोध जैनशास्त्रोंने किया है। हम सोच सकते हैं कि शब्द जो रुपी है, पौद्गलिक है वह आकाश जैसी अरुपी चीज का गुण कैसे हो सकता है? 'वायरलेस-टेलीग्राफी', 'रेडीओ', 'टेलीफोन', 'ग्रामोफोन', तार आदि विज्ञान की नई खोजें शब्द के पौद्गलिकत्व का समर्थन करती है। जैनदर्शन शब्द को भी सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं से बना हुआ स्कन्ध मानते हैं। और शब्द का पुद्गलत्व सिद्ध करते हैं अन्यथा शब्द को हम पकड नहीं सकते। पुद्गलरुप से यह चौदह लोक में व्यापक माना जाता है। रेडीयो नामक यंत्र शब्दों को हजारों माईल तक सुना सकता है। और भी आशा है कि वह शब्द को इस से भी दूर सुना सकेगा। जैन-

रखते हैं। ऐसा कह कर स्वामीजी उन का उपहास करते हैं। जैनदर्शन तो मानता है कि--संसार अनादिकाल से ऐसा ही चला आया है। वह कदापि भव्यों से शून्य नहीं हुआ, न होगा। मोक्षमार्ग भी कभी बंध न हुआ और कदापि होगा भी नहीं। दोनों शाश्वत काल से विद्यमान हैं और रहेगा। अब इस से नतीजा क्या निकला वह देखें। यह जगत् नामरुपमय है ऐसा कहकर अन्य दार्शनिक चूप हो जाते है। परन्तु सर्वज्ञोंने वो नामरुप कैसे होता है? जगत् की विचित्र-रचना किन किन कारणों से होती है। वह स्पष्ट रीतिसे बताया है और इसलिए कर्म फिलसुफी के सेंकडों ग्रंथ पडे हैं, जिस में बिना सर्वज्ञ कोई पंचुपात भी नहीं कर सकता। परन्तु उस के अस्तित्व के वास्ते त्रिपदी का सिद्धान्त उन्होंने जगत् समक्ष रक्खा है। त्रिपदी का सिद्धान्त यह है कि-पैदा होना, नाश होना और स्थिर रहना। वे धर्मवाली वस्तु 'सत्' कही जाती है। (उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्)। इस लिए जो जगत् को 'यह कुछ है' ऐसा मानते हैं वे सत्यवादी नहीं हैं।

पंचभूत विषयक मान्यता भी उन की भूलों से भी नजर आती हैं। केवल कल्पना के अश्व दौडते नजर आते हैं। हम यहाँ उस का उल्लेख करते हैं।

सृष्टि कर्तृत्ववाद की मान्यता

अव्याकृत माया में चेतन का परिस्फुरण होने से उस के तमःप्रधान माया द्रव्य (जो वर्त्तमान सृष्टि रचना के पहिले

स्तब्ध था) में क्षोभ पैदा हुआ। इस क्षोभ से सभी जगह सूक्ष्म परमाणु हो गये और फिर उस परमाणुओं में रही उत्सारक और आकर्षक शक्तियाँ जागृत हुई। उस से वे सब परमाणु एकट्ठे हुए और उनका भिन्न भिन्न समूह बने। इन समूहों की समूह क्रिया के समय एक एक मध्यबिंदु की ओर अन्य परमाणु आकर्षण मे आते हैं और तब सूक्ष्म आघात से सूक्ष्म शब्द (ध्वनि) पैदा होता है यह स्पष्ट है। माया के यह प्राथमिक विकाररूप द्रव्य को आकाश कहते हैं। उसका खास गुण शब्द है। और उसका स्वरूप अवकाश है। और फिर शब्दगुण सहित आकाशद्रव्य की उत्पत्ति के बाद उस के कितनेक परमाणुओं में विशेष गति पैदा होने से ज्यादह आघात (स्पर्श) पैदा हुआ और उस से यह द्रव्य के परमाणुओं से अग्नितत्त्व की उत्पत्ति हुई। और अग्नितत्त्व के कितनेक परमाणुओं में से रसरूप जलतत्त्व की उत्पत्ति हुई। और जलतत्त्व के कितनेक परमाणुओं में से पृथ्वीतत्त्व पैदा हुआ। इस तरह आकाश-वायु-अग्नि-जल और पृथ्वी यह पांच तत्त्वों के परमाणु अर्थात् तन्मात्रायें प्रथम उत्पन्न हुई। ये सब पंच महाभूत कहा जाता है। सृष्टि रचना के आरंभ में कर्ता के चेतन का अव्याकृत माया में स्फुरण होता है। और क्षोभ होने के बाद परमाणुओं की आकर्षक और उत्सारक शक्तियां जागृत होती है। और परमाणु के समूह टकराते हैं, उस से ध्वनि होता है और फिर वायु होता है।

* योग दिवाकर.

यह ईश्वर माननेवाले को ठीक होता है। और वह केवल कल्पनासृष्टि के तरंग मात्र हैं। और यह कथन सत्य नहीं हो सकता। क्यों कि प्रथम ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकता। और जो सर्वज्ञ, निष्क्रिय प्रभु है उस का अव्याकृत माया में स्फुरण कैसे होगा? सांख्यादि दार्शनिक भी इस का विरोध करते हैं। फिर इस कथन को सत्यता का आधार ही कहाँ रहा? भूत शब्द ही बतलाता है कि वह कोई जीववाला बीजक होना चाहिए। जैनशास्त्र में पृथ्विकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव कहे हैं। उस के सूक्ष्म और बादर दो प्रकार कहे हैं। जो सूक्ष्म है वह चौदह राजलोक में व्यापक है। वे जलाये जल नहीं सकते, तोड़ने पर तूट नहीं सकते, केवल सर्वज्ञ या दिव्य चक्षुधारी उस को देख सकते हैं। चर्मचक्षु से वे देखा नहीं जाता। और जो बादर हैं वे स्थूल होने से सभी देख सकते हैं। ऐसा मानने से ईश्वर को भूत बनाने की परेशानी नहीं होती। वे भूत एकमें से दूसरे नहीं हुए मगर व्यक्तिरूप से वे स्वतंत्र ही हैं। उन के शब्दों के अर्थ मे भी यह सिद्ध होता है। उन के भेद भी भिन्न भिन्न हैं और वे शाश्वत भी हैं। जिनेश्वर महाप्रभुने जगत में ६ द्रव्य ही बतलाये हैं। वे सब शाश्वत हैं और उन का अभ्यास हरएक मुमुक्षु को करना चाहिए। ६ द्रव्य ये हैं।

१ धर्मास्तिकाय (*गतिक्रियापरिणत द्रव्य*)

२ अधर्मास्तिकाय (*स्थितिक्रियापरिणत द्रव्य*)

३ आकाशास्तिकाय (अवकाश देनेवाला)

[redacted] पुद्गलास्तिकाय (पुद्गल जिस का गलना, पड़ना, होना, मिलना, आदि स्वभाव है वह)

५ जिवास्तिकाय (अनंत वीर्य)

६ काल (नवीन और प्राचीन पुद्गलों का कारणभूत जि को उपचार से द्रव्य कहते हैं)

तात्पर्य—जैनदर्शन विषयक कुछ लिखने का आशय य है कि–विश्व में सत्यशोधक प्राणी सत्य की खोज करें। औ हंस क्षीरनीर विवेक की तरह सार वस्तु को ग्रहण करें। और जैनदर्शन कितना विशाल है, वह सर्वज्ञकथित है, किसी भी दोषापत्ति से दूर है, उस के सिद्धान्त सर्वमान्य हो सकें वैसे हैं, उस में संकुचितता को जरा भी स्थान नहीं है ऐसा समझे और यही कहने का अन्तिम ध्येय है।

प्रसिद्धकर्त्ता.





जैन तत्त्वसार सारांश.



द्वितीय विभाग.

श्रीमान् खरतरगच्छीय वाचक उपाध्याय श्री सूरचंद
विबुध विरचित.

जैन तत्त्वसार.

(गुर्जर अनुवाद-रहस्य.)

प्रथम अधिकार.

आत्मा और कर्म का स्वरूप.

संशुद्धसिद्धान्तमधीशमिद्धं, श्रीवर्धमानं प्रणिपत्य सत्यम् ।
कर्मात्मपृच्छोत्तरदानपूर्वं, किञ्चिद् विचारं स्वविदे समूहे ॥

अर्थ—जिस का सिद्धान्त संशुद्ध अर्थात् दोष रहित है और जो ज्ञानादि अतिशयों से दीप्त हैं ऐसे सत्य, सर्वज्ञ श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार कर के स्व (आत्मा) ज्ञानार्थ एवं और आत्मा संबंधी प्रश्नोत्तर पूर्वक कुछ विचार बतलाता हूं।

आत्मा.

प्र—आत्मा कैसा है ?

उ—आत्मा नित्य, विभु, चेतनावान् और अरूपी है।

प्र—आत्मा नित्यानित्य किस तरह है !

उ—आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है, और मनुष्य, देव, तिर्यंचादि भवग्रहणरूप पर्याय से अनित्य है।

प्र—विभु अर्थात् क्या ?

उ—विभु अर्थात् व्यापक, जिनमें सर्वत्र व्यापक होने की शक्ति होती है, परन्तु सामान्यतः स्वशरीर में ही व्याप्त होकर रहता है।

प्र—चेतना का क्या अर्थ है ?

उ—सामान्य और विशेष उपयोग को चेतना कहते है।

प्र—अरूपी का क्या अर्थ है ?

उ—अरूपी अर्थात् रूप, आकार, आकृति, या मूर्ति रहित को अरूपी कहते हैं। जिस को वर्ण–गंध–रस और स्पर्श नहीं होवे वे भी अरूपी कहलाते हैं !

कर्म.

प्र—कर्म कैसे होते हैं ?

उ—कर्म जड, रूपी और पुद्गल परिणामवाले होते हैं।

प्र—जड किसको कहते हैं ?

उ—जो चेतना से रहित है वह जड है।

प्र—कर्म कैसे हैं ?

उ—कर्म रूपी हैं। (कर्म रुपी है मगर अति सूक्ष्म होने से चर्मचक्षुओं से उस को नहीं देख सकते, केवलज्ञानी उस को देख सकते हैं.)

प्र—पुद्गल किसको कहते हैं ?

उ—पुद्गल अर्थात् पूरण, (स्कन्ध की दृष्टि से मिलना) और गलन (क्षय होनेवाला) स्वभाव जिस का है उस को पुद्गल कहते हैं।

जीव.

प्र—जीव कितने हैं ?

उ—जीव अनन्त हैं।

प्र—जीव के कितने भेद हैं और वे कौन कौन से हैं ?

उ—जीव के दो भेद हैं। (१) संसारी (२) सिद्ध।

प्र—संसारी जीव किस को कहते हैं ?

उ—जो कर्म सहित है वह संसारी जीव हैं।

प्र—सिद्ध के जीवों का क्या स्वरूप है ?

उ—जो संपूर्ण कर्मों से रहित होते हैं वे सिद्ध के जीव कहलाते हैं।

प्र—संसारी जीव के मुख्य कितने भेद हैं। और वे कौन कौन से हैं ?

उ—संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं। (१) स्थावर (२) त्रस।

प्र—स्थावर के कितने भेद हैं और वे कौन कौन से हैं ?

उ—स्थावर के पांच भेद हैं। (१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजकाय, (४) वाउकाय, (५) वनस्पतिकाय।

प्र—इन्द्रियाँ कितनी हैं और उन के क्या नाम हैं ?

उ—इन्द्रियाँ पांच हैं। (१) स्पर्शेन्द्रिय (२) रसेन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) चक्षुरिन्द्रिय (५) श्रोत्रेन्द्रिय।

प्र—त्रस के कितने भेद हैं और वे कौन कौन से हैं ?

उ—त्रस के चार भेद हैं। (१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय (३) चतुरिन्द्रिय (४) पंचेन्द्रिय।

प्र—स्थावर किस को कहते हैं ?

उ—जो स्थिर रहता है वह स्थावर है।

प्र—त्रस जीव किस को कहते हैं ?

उ—जो स्वयं गति–विगति, चलता–फिरता है उस को त्रस कहते हैं।

प्र—किस इन्द्रिय में कौन से जीव होते हैं वह बतलाओ ?

उ—पृथ्वी–जल–अग्नि–वायु–वनस्पति यह सब जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। कृमि आदि जीव द्वीन्द्रिय। चींटी आदि जीव त्रीन्द्रिय। भ्रमरादि जीव चतुरिन्द्रिय और देव, मनुष्य, नारक, पशु, पंखी, मत्स्य, सर्प, नकुल आदि पंचेन्द्रिय कहलाते हैं।

प्र—पंचेन्द्रिय के कितने भेद हैं और उन के नाम क्या है ?

उ—चार भेद हैं। (१) देव (२) मनुष्य (३) नारक (४) तिर्यंच।

प्र—वनस्पति के मुख्य कितने भेद हैं और उन के नाम क्या है ?

उ—वनस्पति के मुख्य दो भेद हैं। (१) साधारण (२) प्रत्येक.

प्र—साधारण वनस्पतिकाय किस को कहते हैं ?

उ—जिस का शिर, जोड और गांठ गुप्त होती है अथवा जिस के एक समान टूकडे हो सके हैं अथवा जो तन्तु रहित होते हैं अथवा जिस को काट देने पर भी उगता [illegible]से आद्र, हल्दि, गाजर, कंवारपटा, कांदा

इत्यादि को साधारण वनस्पति में गिनते हैं जिस के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। साधारण वनस्पतिकाय की अथवा अनन्तकाय की 'निगोद' ऐसी भी संज्ञा है।

प्र—प्रत्येक वनस्पतिकाय किस को कहते हैं ?

उ—जिस के एक शरीर में एक जीव होता है वह प्रत्येक वनस्पतिकाय कही जाती है।

प्र—पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव के कितने भेद हैं और उन के क्या क्या नाम हैं ?

उ—एकेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं। (१) सूक्ष्म (२) बादर (स्थूल)

प्र—सूक्ष्म किसको कहते हैं ?

उ—जो जीव संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त रहते हैं मगर चर्म चक्षुओं से नहीं देखे जाते वे सूक्ष्म जीव कहे जाते हैं।

प्र—बादर किस को कहते हैं ?

उ—जो जीव चर्मचक्षुओं से देखे जाते हैं वे बादर होते हैं।

प्र—जीवों की कितनी योनियाँ (पैदा होने का स्थान) हैं।

उ—८४ लक्ष जीवयोनियाँ हैं।

प्र—योनि का क्या अर्थ है वह विस्तार से कहो ?

उ—जीवों के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। उत्पत्ति के

समय जो समान स्पर्श, रूप, रस, गंध और वर्णवाले होते हैं उन की एक प्रकार की योनि कही जाती है।

—कर्म कितने हैं ?

—जीव से अनन्तगुना ज्यादह हैं। जीव के प्रत्येक प्रदेश में शुभाशुभ कर्मों की अनन्त वर्गणायें (समूह) होती हैं। उन को सर्वज्ञ ही देख सकते हैं।

—संसारी जीव कैसे होते हैं वह हम को उदाहरण के साथ बतलाओ ?

—खान में जैसे सुवर्ण मिट्टी से व्याप्त होता है उस तरह लोकाकाश में संसारी जीव कर्मों से आवृत्त होते हैं।

—भिन्न जाति (स्वभाव अथवा सत्ता) वाले कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे होता है ?

—जिस तरह खान में मट्टी और सुवर्ण का, अरणी के काष्ठ में अरनी का और उस में रहे हुए अग्नि का, दूध और उस में रहे हुए घृत का योग समानकाल में ही हुआ होता है। तथा सूर्यकान्तमणि का और तत्रस्थ अमृत का योग समानकाल में ही हुआ होता है। उसी तरह कर्मों का और आत्मा का सम्बन्ध ज्ञानियोंने अनादिकाल से संसिद्ध कहा है।

प्र—आत्मा कर्म से कैसे मुक्त हो सकता है ?

प्र—जीव और कर्म ये दोनों कुछ भी नहीं है ऐसा माना जाय तो क्या कुछ आपत्ति है ?

उ—नहीं, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। क्यों कि अगर जीव नहीं है तो इन दोनों की नास्तिता का ज्ञान किस को हुआ!

सारांश—इस पर से हम देख सकते हैं कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि समय से है। और यह मानना ही युक्ति संगत है।

" अज्ञान तिमिर भास्कर. "





द्वितीय अधिकार.

जीव का स्वभाव कर्मग्रहण करने का है।

प्र—कर्म जड हैं तो क्या वे स्वयं जीव का आश्रय ले सकते हैं?

उ—हां, जैसे लोहचुम्बक लोहे को अपनी ओर खिंचता है वैसे कर्म भी स्वयं आश्रय के वास्ते समर्थ हैं।

प्र—आत्मा शुद्ध (चेतनायुक्त) है। और इस कारण से शुभकर्मों का ग्रहण करे यह तो स्वाभाविक है। क्यों कि जीव सुख का अभिलाषी होता है। मगर जब उस को दुःख अप्रिय है तब अशुभ कर्मों को क्यों ग्रहण करता है?

उ—जीव सुख दुःख के जो पांच हेतु (समवाय) है उन की प्रेरणा से वह समजता हुआ भी शुभाशुभ कर्मों को ग्रहण करता है। पांच हेतु के नाम इस तरह हैं

काल (जिस काल में जो कुछ होनेवाला हो वह)
स्वभाव (जीव को ग्रहण करने का)
नियति (भवितव्यता, होनहार)
पूर्वकृत (जीवने पहले जो कर्म किये थे)
पुरुषकार (जीव का उद्योग)

जैसे कोई धनवान मनुष्य भवितव्यता से प्रेरित होकर स्वादिष्ट मिठाई और रस को जानता हुआ भी खत्त को खाता है। कोई मुसाफिर इष्टस्थान को पहुँचने के वास्ते शुभाशुभ स्थानों का उल्लंघन करता है। चोर, परस्त्रीगामी, व्यापारी, मतधारी और मायामय जानते हुए भी शुभाशुभ कृत्य को करते हैं। भिक्षुक, बंदिजन (भाट इत्यादि) और तत्वज्ञानी, योगी, भिक्षा को स्निग्ध (घृतादि स्नेह से युक्त) अथवा रस युक्त जान कर के जैसी मिली वैसी आरोगते हैं। युद्ध में घिरा हुआ शूर जानता हुआ भी शत्रु, मित्र की हत्या करता है और रोगी कुपथ्य को जानता हुआ भी भवितव्यता से उस का सेवन करता है।

प्र—जीव, ज्ञान के बिना कर्मों को क्या ग्रहण कर सकता है?

उ—बिना ज्ञान लोहचुम्बक जैसे लोह को खिंचता है वैसे कालादि से प्रेरित जीव भी बिना ज्ञान समीपस्थ शुभाशुभ कर्मों को खिंचता है।



तृतीय अधिकार.

अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों को ग्रहण करता है ।

प्र—जीव स्वयं अरूपी होने से हस्तादि और इंद्रियों की सहाय के बिना कर्म किस से ग्रहण करता है ? किसी को कुछ ग्रहण करना होता है तब वह प्रथम वस्तु का निरीक्षण करता है तत्पश्चात् हस्तादि से उस को ग्रहण करता है । आत्मा वैसा नहीं है तो कर्म को कैसे ग्रहण करेगा ?

उ—आत्मा अपनी शक्ति से तथा कालादि से प्रेरित होकर इन्द्रियों की मदद के बिना भविष्यकाल में भोग्य ऐसे कर्मों को ग्रहण करता है । देखो ! औषधियों से सिद्ध पारद की गुटिका । यद्यपि उस को हाथ, पैर नहीं होते तदपि दुग्धपान कराया जाता है । रांगा और जल को वह शोष लेती है । शब्दवेध करने की ताकात देती है और शुक्र की वृद्धि करती है तो फिर जिस की अचिन्त्य शक्ति है वैसा आत्मा क्या नहीं कर सकता ? और भी देखिए ! वनस्पति बिना हाथ–पैर आहार

भरती है। धीपलादि के मूल में जल डाला ज
और फल को मिलता है। इतना ही नहीं प्रायः
चीज स्वयं जल को लेकर आर्द्र होती है। इस तरह
भी कर्म को ग्रहण करता है।

प्र—परन्तु स्वयं जल ग्रहण कर के आर्द्र होती है तो
जल की शक्ति से यह आर्द्र नहीं होती ?

उ—अगर जल की शक्ति से ही आर्द्र होती है तो
शीशीभा पत्थर भी आर्द्र होना चाहिए।

सारांश—संक्षेप में यही लिखने का मतलब है कि
को जो चीज ग्रहण करने योग्य होती है, वह उस चीज को ग्र
करता है। दृष्टान्त के तौर पर लोहचुम्बक यह सब को छोड़
लोहे को ही खिंचता है। इस लिए भवितव्यता के वश हो
जीव तद् तद् कर्मों को ग्रहण करता है। जैसे स्वप्नस्थ मनुष
मन से अनेक क्रियाओं को करता है। उस समय उस की पांच
ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियां कुछ क्रिया नहीं करती तब भ
क्या आत्मा कर्म को नहीं ग्रहण करता ?

प्र—स्वप्न यह क्या भ्रम है ?

उ—नहीं, यह भ्रम नहीं है। कभी स्वप्न

उ—जीव गर्भ में शुक्र और रज (रूधीर) के मध्य में स्थित होकर यथोचित आहार को ग्रहण कर के इन्द्रियों की मदद के विना- जल्दि से सब धातुओं को पैदा करता है। और रोममार्ग से आहार लेकर खल को त्याग कर के रसों का आश्रय लेता है। और उस के मल को जल्दि जल्दि यत्न से त्याग करता है। और भी सत्व—रज और तम इन तीन गुणों को धारण करता हुआ सद्ज्ञान—विज्ञान—क्रोध—मान—माया—लोभ—हिताहित—आचार—विचार——विद्या—रोग—समाधि आदि को धारण करता है। इस तरह आत्मा विना कर्म की मदद के शरीर के भीतर की क्रियाओं को करता रहता हैं। और समय संपूर्ण होनेपर जैसे कोई मकान में से किरायेदार चला जाता है वैसे यह आत्मा भी शरीर में से निकल जाता हैं।

भावार्थ—इस तरह आत्मा शरीर में स्थित होकर, देह में व्याप्त होकर, इन्द्रियों की मदद को छोड कर क्रियाएँ करता है। और सूक्ष्म तथा स्थूल रुपी द्रव्यों को ग्रहण करता हैं। तब सूक्ष्मतम कर्मों को भी क्यों ग्रहण न करेगा ?। और यह आत्मा रुप तथा इत्यादि से रहित होने पर भी ऐसे रुपी शरीर को आहार—पानादि इन्द्रियों के विषय में तथा शुभाशुभ आरंभवाले कर्मों में किस तरह प्रवृत्ति कराता है यह बात विचार के योग्य है। अगर जीव के प्रयत्न के विना इन्द्रियादि अङ्ग कार्य करता है तो शब में (मृतक)—कि जब आत्मा निकल जाती है तब—क्रिया होनी चाहिए। इस से सिद्ध होता है

आत्मा ही शुभाशुभ कर्मों को करता है। अकेले अंग कुछ नहीं करते। और भी ध्यानी महात्मा यावत्गत इन्द्रियों की मदद के बिना इच्छित कार्य करता है और जल, पुष्प, फल तथा दीपादि के बिना भी केवल सद्भाव से पूजा सफल करते हैं. जैसे बिना जिह्वा जप करते हैं। बिना कर्ण और सुन भी लेते हैं। इसी तरह यह जीव भी इन्द्रियों और हस्तादि के बिना काल, समवाय आदि से प्रेरित होकर कर्मों को ग्रहण करता है।

प्र—जीव के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त कर्म लगे हुए हैं तब वे पिन्डीभूत होकर क्यों नहीं दिखते ?

उ—सूक्ष्मतम कर्म चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जाता, मात्र ज्ञानी-जन ही उन को अपनी दिव्यज्ञान दृष्टि से देख सकते हैं।

उदाहरणः—किसी पात्र या वस्त्रादि में लगे हुए सुगंध-युक्त या दुर्गंधयुक्त पुद्गलों को नासिकाद्वारा जान सके हैं परन्तु पिण्डीभूत होनेपर भी नयनादिक से देख नहीं सके, मात्र केवलज्ञानी ही उन को यथार्थ रूप से देख सके हैं। इसी तरह सिद्ध किया हुआ पारद में सुवर्णादि दृष्टि से देखा नहीं जाता परन्तु जब कोई सिद्ध योगी-पुरुष उन सुवर्णादि को पारद से बहार निकालता है तब ही उन की सत्ता निश्चित होती है। इसी तरह जीव को लगे हुए कर्म मात्र केवलज्ञानी ही जान सके हैं-अन्य कोई नहीं।



चतुर्थ अधिकार.

जीव और कर्म का संयोग ।

प्र० जीव अमूर्त है और कर्मसमुदाय मूर्त है । तब उन दोनों का संयोग कैसे होगा ?

उ० जीव की शक्ति से और कर्म के स्वभाव से दोनों का संयोग हो सकता है। गुण का आश्रय द्रव्य है। "गुणानाम आसवो द्रव्यम्" संसारी जीव-द्रव्यका गुण कर्म है। और इसी से गुण गुणी का आश्रय करें तो स्वाभाविक ही है। उदाहरण हम ले सक्ते हैं कि आकाश जो अमूर्त है उस को विचक्षण लोग मूर्त और अमूर्त का, गुरु और लघु आदि सर्व पदार्थों का आधार मानते हैं। और भी विचार कीजिये कि अरूपी आकाश हमेशां रूपी द्रव्यों को कैसे धारण करता होगा ? और भी विपय-

कषायादि को, काम कलागुण क्रियाओं को आत्मा शरीर में अरूप रूप से रहते पर भी कैसे धारण करती है। और यह दृश्यमान देह को भी जीव कैसे धारण करता है, जैसे कपूर, हींगादि की अच्छी–बुरी गंध हिवाई के मुताबिक आकाश को आश्रय कर के रहती है वैसे कर्म भी जीव को आश्रय बना कर रहते हैं। इत्यादि अनेक दृष्टान्तों से निश्चित है कि कर्म आत्मा का आश्रय लेते हैं। अगर कोई कहे कि–गुण तो शरीर में रहते हैं तो हम उत्तर दे सकते हैं कि मृत्यु के बाद शरीर होने पर भी वे गुण क्यों नहीं दिखते? और भी अन्यजीव का स्वीकार करने से आत्मा और कर्म का आश्रयाश्रय भाव, आधाराधेय सम्बन्ध भी निश्चित कर सकते हैं।



पंचम अधिकार.

मुक्त जीवों को कर्मबन्ध नहीं होता।

अगर जीव का स्वभाव कर्मग्रहण करने का [illegible]
अपने स्वभाव को छोड़ कर मुक्त कैसे होगा?

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि [illegible]
अमुक सामग्री का संयोग होने पर [illegible]
है। दृष्टान्त यह है कि पारद का स्वभाव [illegible]
अग्नि में अस्थिर रहने का है। [illegible]
यथाप्रकार की भावना देने से पारद [illegible] स्थिर
रहता है। यद्यपि अग्नि दाहक [illegible]
पारा स्थिर रहता है।

द्वितीय दृष्टान्त—अग्नि में दाहकता है। [illegible]
औषधि से प्रयोग किया जाय तो [illegible]

सकते हैं। अग्निभक्षक चकोर पक्षी को अग्नि अपना स्वभा बदल देने से नहीं जलाती।

लोहचुम्बकपाषाण में लोहग्रहण करने का स्वभाव मगर अग्नि से जब यह मारा जाता है या उस के गु हरण करनेवाली कोई औषधि से संयुक्त किया जाता है उस का लोहग्रहण करने का स्वभाव नष्ट हो जाता है। का प्रकृतिसिद्ध स्वभाव चंचल है परन्तु जब मारक आ निरुद्ध किया जाता है तब वह स्वभाव चला जाता अग्नि का स्वभाव जलाने का है परन्तु अभ्रक, सुवर्ण और कम्बल तथा सिद्ध पारद को नहीं जलाती तो उस का स्वभाव उस समय कहाँ जाता है ?

सारांश—पारद, लोहचुम्बक, अग्नि आदि में अमुक कि करने पर जैसे मूल स्वभाव नष्ट हो जाता है वैसे जीव कर्मग्रहण स्वभाव सिद्धदशा में चला जाता है तो आश्चर्य है ? *

प्र० सिद्धजीव में कर्मबन्ध कैसे नहीं होता ?

उ० धान्यादि का बीज जलने पर जैसे अंकुरोत्पत्ति नहीं हो वैसे कर्मबीज जलने पर कर्मबन्ध नहीं होता।



* 'क्षुधादि मुनिगण आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाओं का त्याग कर के परमपद सिद्ध हुए हैं।... शौनक



षष्ठ अधिकार.

कर्मों का कोई प्रेरक नहीं है।

जगत् के प्राणी कर्मों के मुताबिक सुख दुःख को पाते हैं मगर उन कर्मों का प्रेरणा करनेवाली कोई व्यक्ति या ईश्वर होना चाहिए। कारण यह है कि जीव स्वभाव से सुख को चाहनेवाला और दुःख का द्वेष करनेवाला है तो फिर स्वेच्छा से शुभाशुभ कर्मों को यह भोग नहीं सकता।

जीव का स्वभाव शुभाशुभ कर्मों का ग्रहण करने का है। उस को अपने कर्मों के सिवाय कोई सुख दुःख को नहीं देता। जो कर्म के सिद्धान्त को जानते हैं वे कर्म को ही भाग्य, भगवान्, स्वभाव, अदृष्ट या विधाता के नाम से मानते हैं।

कर्म अजीव, जड़ हैं इस लिए वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते। कोई प्रेरक अवश्य होना चाहिए।

उ० कर्म जड है मगर उस का स्वभाव ऐसा है कि
किसी की प्रेरणा के बिना स्वयं आत्मा को स्वतन्त्र
योग्य फल देता है; और इसी से उस का कोई प्रेरक नहीं

प्र० जीवों का कर्म के साथ कैसा सम्बन्ध है ?।

उ० जो जीव अजीव शरीर के साथ सम्बन्ध रख के वर्तमा
जीवित हैं, भूतकालमें जीवित थे और भविष्यका
जीवित रहेंगे; वे सबों का कर्मों के साथ त्रैकालिक सं
है ऐसा शास्त्रकार कहते हैं।

प्र० यह जगत् कैसा है ?

उ० यह संपूर्ण विश्व षड्द्रव्य और पंचसमवायरूप है।

प्र० षड्द्रव्यों के नाम और उस की पहिचान कराओ।

उ० धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्ति
काय जीव और काल ये षड्द्रव्यों के नाम हैं। धर्मास्ति
गतिमें सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय स्थितिमें स
करता है। आकाशास्तिकाय अवकाश देता है। पुद्ग
स्तिकाय से जीव आहार–विहारादि को करता है। [illegible]
कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। काल मनुष्यादि
प्रमाणयुक्त वस्तुओं के प्रमाणमें उपयोगी होता है। [illegible]
चेतनावान होता है।

प्र० जीव किस के सामर्थ्य से कर्मों का ग्रहण, धारण, [illegible]
और शमन करता है ?

सेवन करता है। और उस के बाद खट्टा मीठा ! करंभ' आर खाया जाय तो उस के शरीर में वायु उत्पन्न होता है। और वह वायु वर्षाऋतु के संयोग से अत्यन्त कुपित हो कर के शरद् के संयोग होने पर ही पित्त के प्रभाव से प्रायः शान्त होता है। स्वेच्छित भोजन से वायु की उत्पत्ति, वृद्धि और नाश ये तीन दशायें प्राप्त होने में जैसे काल हेतु है वैसे आत्माको भी कर्मों के ग्रहण में, स्थिति में और शान्त होने में काल ही कारण है। इस तरह आत्मा से उपार्जित कर्मों का काल से ही भोग और शान्ति होती है। यह होने पर भी जैसे उग्र उपायों से काल प्राप्त होने के पहिले भी वातादि शान्त होते हैं वैसे कर्म भी शान्त होते हैं।

कोई स्त्री अन्य की प्रेरणा के बिना किसी पुरुष से संभोग करें और उस का विपाक काल परिपूर्ण होने से प्रसव के समय उस को सुख और दुःख होता है उसी तरह जीव के स्वकृत शुभाशुभ कर्म किसी की प्रेरणा के सिवाय स्वकाल को प्राप्त हो करके जब प्रगट होते हैं तब जीव को सुख और दुःख देते हैं।

सिद्ध या असिद्ध पारद कोई रोगी खा जाय और उस का जब स्वकाल प्राप्त होता है तब वह सुख दुःख को पाता है, अथवा दुर्वात शीतांगक या सन्निपातादि रोग जिस शरीर में रहते है उस शरीर को स्वकाल प्राप्त होने पर दुःख देते हैं। और भी चेचक, शीतला आदि बालरोग की गरमी की असर छे मास तक शरीर में रहती है। और क्षय, आधिबिन्दु, उदयव,

पक्षपात, अर्धांग और शीतांग आदि रोगों का परिपाक सहस्र दिन के पश्चात् शास्त्रविशारद वैद्यलोग ज्ञानबल से कहते हैं। जैसे कृत्रिम विष तत्काल नाश करनेवाला या मास, दो मास, वर्ष या दो वर्ष के बाद नाश करनेवाला होता है उसी तरह कर्म भी अनेक तरह के और भिन्नभिन्न स्थिति के होते हैं जो स्व स्वकाल को प्राप्त होने पर स्वयं ही स्वकर्ता जीव को तादृश फल देते हैं। जैसे वसन्त, हेमन्त, वर्षादि ऋतुयें स्वकाल को प्राप्त हो कर मनुष्यों को सुखदुःख देती हैं उसी तरह कर्म समुदाय भी स्व स्वकाल को प्राप्त हो कर के किसी की प्रेरणा के बिना आत्मा को सत्वर सुखदुःख पहुँचाती है। और भी जैसे पित्त से उत्पन्न ज्वर दश दिन, कफ से बार दिन, वात से सात दिन और त्रिदोष से पैदा हुआ ज्वर पंदरह दिन रहता है उसी तरह कृतकर्मों का स्थितिकाल भी भिन्नभिन्न होता है।

और भी आत्माने जिस तरह के पूर्व आचरण किये हो उसी तरह के ग्रह भी जन्मकुण्डली में आते हैं। उन ग्रहों का फल जैसे महादशा, अंतर्दशा सहित स्वस्थिति के मुताबिक– किसी की प्रेरणा के बिना स्वभाव से ही भोगे जाते है उस तरह अन्यकर्मों से अंतरित (अन्य जो कर्म आत्माने किये हो उस का फल परिपाक काल आने पर स्वयं ही भोगे जाते हैं। परन्तु कभी कभी जैसे स्वादिष्ट भोजन शरीर में तत्काल ही वातादि को पैदा करता है उसी तरह उग्र कर्म आत्मा को तत्काल ही फल देता है। और भी जैसे कोई

औषधिपान के समय नहीं जानता है कि यह हितकारी
अहितकारी है मगर जब उस का परिपाक काल आता है
सुख या दुःख देती है उसी तरह कर्मग्रहण के समय
उस की शुभाशुभता को नहीं जानता किन्तु कर्मों के परि
के समय वे कर्म सुख या दुःख अवश्य देते हैं।

प्र० कर्म कितने प्रकार से उदय में आते हैं वह दृष्टान्त
साथ बतलाओ।

उ० कर्म चार प्रकार से उदय में आते हैं।

प्रथम प्रकार—इधर ही किया अच्छा या बुरा कर्म
ही उदय में आता है। दृष्टान्त के तौर पर जैसे सिद्ध पु
या राजा को दी हुई स्वल्प वस्तु भी लक्ष्मी को लाती है
चोरी आदि अप्रशस्त कार्य यहाँ ही नाश के लिये होता है

दूसरा प्रकार—इस भव में किया कर्म अन्य भव
उदय में आता है। जैसे तपोव्रतादि प्रशस्य आचरणों
देवत्वादि मिलते हैं। और विरुद्ध आचरणों से नरका
मिलते हैं।

तीसरा प्रकार—पूर्वजन्म में कृतकर्म इस जन्म में सुख
दुःख को देनेवाला होता है। जैसे किसी गृहस्थ के वहाँ अ
पुत्र का जन्म होता है तब दरिद्रता बढने लगती है, माता
आदि का वियोग होता है और जन्मकुण्डली में ग्रह भी अच्छे
आते जब अन्य किसी गृहस्थ के वहाँ पुत्रजन्म से ऐश्वर्य

संपत्ति और सुख बढ़ता है और उस के सुकर्म से माता आदि का सुख भी होता है और जन्मपत्रिका में ग्रह भी अच्छे आते हैं।

चौथा प्रकार—पूर्वजन्म में कृतकर्म पूर्वजन्म में ही फलदायी होते हैं। अर्थात् इस भव में किया हुआ कर्म इस भव में नहीं, इस के बाद के भव में भी नहीं मगर उस के बाद के भव में आत्मा को फलदायी होता है। दृष्टान्त यह है कि—कोई इस जन्म में उग्र उग्र तपश्चर्या आदि करे मगर उस के पहले अगर देव या तिर्यंचादि भवों का आयु निर्माण कर लिया हो तो उस के प्रभाव से—दीर्घायुवाला कोई भोगने योग्य बड़ा फल—उस के बाद के भव में द्रव्यादि सामग्री का तथाप्रकार का उदय हो तब ही प्राप्त होता है।

जैसे कोई मनुष्य यह चीज कल को काम आयेगी ऐसा समज कर आज उस का उपयोग न करते हुए सम्हाल के रख लेता है और फिर योग्य समय को जैसे उस का उपयोग करता है उसी तरह कर्म की स्थिति मान लेनी चाहिए।

प्र० कर्म कितने प्रकार की अवस्थावाले होते हैं ?

उ० कर्म तीन प्रकार की अवस्थावाले होते हैं। (१) भुक्त (२) भोग्य और (३) भुज्यमान। ये सब स्थितियाँ शुभ अशुभ को समान होती हैं।

प्र० भुक्त, [illegible] भुज्यमान अर्थात् क्या ?

उ० भुक्त अर्थात् पृथ्वी पर गिर के सूके हुए वर्षा के बिन्दु समान जो कर्म होते हैं वे भुक्त कहलाते हैं।

भोग्य-पृथ्वी पर गिरनेवाले और सुक आनेवाले वर्षा के बिन्दु समान होते हैं।

भुज्यमान कर्म गिरते गिरते सुक जानेवाले वर्षाबिन्दु के समान होता है।

भिन्न प्रकार से कहें तो-मुख में गहित आहार के कवल समान भुक्त-कर्म, गृहित किये जानेवाले कवल के समान भोग्य कर्म, और ग्रहण करते कवल को समान भुज्यमान कर्म समझना चाहिए।

प्र० केवलज्ञानी महन्तों को कर्म कैसी स्थितिवाले होते हैं ?

उ० केवलज्ञानी के बँधते कर्म तप्त शिला के अग्रभाग पर गिरते वर्षाबिन्दु की स्थिति के समान स्थितिवाले होते हैं।

प्र० कर्मादि अन्य की प्रेरणा के सिवाय क्या कर्म की तीन दशाएँ हो सकती है ?।

उ० हाँ, कर्मादि अन्य की प्रेरणा के बिना भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के उस प्रकार के स्वभाव से कर्मो की भुक्तादि तीन दशाएँ होती है।

प्र० केवलज्ञानी महन्तों में इस विषयक क्या व्यवस्था है ?

उ० उन के विषय में भी यही व्यवस्था समझनी चाहिए। अन्त समय के पहिले केवलज्ञानी को भोग्य कर्म नहीं होते। भुक्त और भुज्यमान होते हैं। और अन्त समय में तो सर्व कर्मों के क्षय से केवल भुक्त कर्म ही होते हैं।

प्र० सिद्धात्मा को क्या ये तीन दशाएँ होती हैं ?

उ० सिद्धात्माओंने कर्मों का पूर्वनाश किया है इस लिए उन को ये तीन दशाएँ नहीं होती।

प्र० भुक्त कर्म कहाँ तक रहता है ?

उ० भुक्त कर्म—इस तरह की स्थिति जिस भव में केवलज्ञान हुआ है उस भव के अन्त तक रहती है। सिद्धात्मा में नहीं होती।





सप्तम अधिकार.

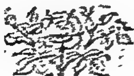
मुक्तिमार्ग कभी परिपूर्ण नहीं होगा
और
संसार कभी भव्यशून्य नहीं होगा ॥

प्र० मुक्तिमार्ग नदी के प्रवाह की तरह हमेशां जारी ही रहेगा और संसार कदापि भव्यशून्य नहीं होगा ये दोनों परस्पर विरुद्ध वाक्य कैसे ठीक होंगे यह उदाहरण के साथ समझाइए।

उ० नदीयों के उद्गमस्थान से जल का प्रवाह हमेशां प्रवाहित हो कर के समुद्र में जाता है मगर उद्गमस्थान कभी जल से खाली न हुआ और जलप्रवाह स्थिर भी न हुआ और समुद्र कभी पूर्ण भी न हुआ। इसी तरह हमेशां भव्यजीव संसार को छोड के मुक्ति को जाते हैं किन्तु

संसार कभी खाली न होगा, और न भव्य जीवों का अभाव होगा और मुक्ति कभी पूर्ण भी नहीं होगी।

और भी जैसे कोई अलौकिक बुद्धिवाला मनुष्य जन्म से मृत्यु पर्यन्त तीन लोक के (स्वर्ग, मृत्यु, पाताल) सर्व शास्त्रों का, हिन्दुओं के षट्दर्शनों का और यवनशास्त्रों का भी आत्मशक्ति से सेवन करता हुआ असंख्य वर्षीय आयुष्य का पालन करें तथापि शाश्वत पाठ से उस का हृदय कभी शास्त्राक्षरों से पूर्ण नहीं होगा और शास्त्राक्षर भी कम नहीं होंगे और शास्त्र खाली भी नहीं होंगे। इसी तरह संसार से भले कितने-ही भव्य मोक्ष में चले जाय तथापि मुक्ति परिपूर्ण नहीं होगी, भव्यों का अभाव नहीं होगा और संसार रीता भी नहीं होगा। इस से स्पष्ट समजना कि मोक्षमार्ग सदैव बिना अंतराय के बहता रहेगा और संसार भी कभी भव्यशून्य नहीं होगा।





अष्टम अधिकार.

प्र० मुक्ति कैसे होती है ?

उ० आत्मज्ञान प्राप्त करने से मुक्ति होती है।

प्र० अन्य संप्रदायवाले मुक्ति किस से मानते हैं ?

उ० वैष्णव विष्णुसे, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्म से, शैव शिव से और शाक्तिक शक्ति से मुक्ति को मानते हैं। उन के मत में आत्मज्ञान मुक्ति का कारण नहीं है।

प्र० विष्णु का क्या अर्थ है।

उ० विष्णु शब्द से आत्मा ही वाच्य–योग्य–समजने योग्य है। आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त होता है, तब वह संपूर्ण लोकालोक का स्वरूप जानता है। अर्थात् ज्ञान वही आत्मा और उस से सर्वत्र व्याप्त होने से आत्मा ही विष्णु है।

प्र० ब्रह्म अर्थात् क्या ?

उ० ब्रह्म का अर्थ भी आत्मा है। निज शुद्ध आत्मभाव अर्थात् परब्रह्म ऐसी संज्ञा जिस को दीयी है उस की भावना करने से आत्मा ही ब्रह्म है।

प्र० शिव अर्थात् क्या ?

उ० शिव अर्थात् शिव–निर्वाण–मोक्ष प्राप्त करने से और शिव का कारण होने से आत्मा ही शिव है।

प्र० शक्ति का क्या अर्थ है ?

उ० शक्ति अर्थात् स्व आत्म वीर्य–शक्ति–उपयोग में लाने से आत्मा ही शक्ति है।

∴ तात्पर्य—इस तरह विष्णु आदि शब्दों से आत्मा ही समजना और आत्मा से–आत्मज्ञान से ही मुक्ति है, अन्य किसी से मुक्ति प्राप्त नहीं होगी ऐसा विचार हमेशां हृदय में रखना चाहिए।

प्र० अगर आत्मज्ञान से मुक्ति न होती हो और केवल विष्णु-प्रमुख से होती हो तो क्या विरोध है ?

उ० अगर विष्णुप्रमुख से ही मुक्ति मिलती हो तो वैष्णवादि सन्त और गृहस्थ विष्णुप्रमुख की ही पूजा और जाप करें मगर तप, संयम, निःसंगता, रागद्वेष का निवारण, पञ्चेन्द्रिय के विषयों से निवृत्ति, ध्यान और आत्मज्ञानादि क्यों करते हैं ? यह स्पष्ट करना चाहिए।

प्र० तप, संयम आदि विष्णु की ही सेवा है ऐसा माना जाय, तो क्या विरोध है ?

उ० प्रथम सवाल यह उपस्थित होता है कि "वे किस से प्रवृत्ति में आया"। अगर विष्णुअनुग से कहा जाय तो विष्णु को वाणी या हाथ पैर आदि कुछ नहीं है वह यह कैसे अन्य को ज्ञान करा सकता है। कारण यह है कि विष्णु तो निष्क्रिय हैं और निष्क्रिय को सक्रिय कहना यह तो मूर्खता है।

लोक रूढी में मान्य कामक्रीडा आदि शृंगार साधनों में प्रवृत्त तथा सृष्टि के उत्पत्ति-लय-स्थिति के कारणरूप विष्णु-ब्रह्मा और शिव यहाँ ग्रहण करने के नहीं हैं मगर जिस का शुद्ध स्वरूप बतलाया है उस शुद्धात्म स्वरूप को ही ग्रहण करने का है। विजयोदयसूरि.

प्र० तप, संयम आदि प्रवृत्तियाँ किस से हुई ?

उ० वे अध्यात्मयोग से हुई। उस के सिवाय वे प्रवृत्तियाँ नहीं हो सकती। अगर ऐसा कोई कहे कि विष्णु के भक्त योगियोंने कीथी तो ऐसा प्रश्न खडा होता है कि-उन को वे प्रवृत्तियाँ किसने समझाई ? तब कहना ही होगा कि वे अध्यात्मयोग से हुई। अध्यात्मयोग के प्रणेता विष्णु नहीं हो सकते क्यों कि वे निष्क्रिय हैं। इस लिए संक्षेप में यही लिखने का है कि आत्मध्यान से ही अध्यात्मयोग होता है।

प्र० अध्यात्मयोग किस से आविर्भाव को पाया ?

उ० अध्यात्मयोग योगियों से प्रगट हुआ और योगियोंने भी आत्मज्ञान से ही अध्यात्मयोग को पहिचाना अन्य से नहीं; अर्थात् निष्क्रिय, निरिन्द्रिय, निरंजन और एक स्वरूप विष्णुप्रमुख से नहीं जाना।

प्र० अध्यात्म योग किसको कहना ?

उ० स्व-आत्मा से समभाव करने से-रागद्वेष के जाने से अपूर्व आत्मलाभ से और संपूर्ण द्रव्यों के यथास्थित दर्शन से जो ज्ञानबोध होता है उस को अध्यात्म योग कहते हैं।

प्र० अध्यात्म योग कैसे होता है ?

उ० वह स्वतः सिद्ध है।

प्र० स्वभाव से मुक्ति मानी गई है सो कैसे और इस का क्या अर्थ है ?

उ० स्व अर्थात् आत्मा, उसका भाव वह स्वभाव। भव शब्द 'भू' धातु पर से हुआ है जिस का अर्थ प्राप्ति है। इस लिए उस का भी अर्थ प्राप्ति करना योग्य है। और ऐसे अर्थ को स्वीकारने पर स्वभाव का अर्थ आत्म-प्राप्ति-आत्मलाभ और आत्मज्ञान से मुक्ति निश्चित है।

प्र० मुक्ति मार्गको रोकनेवाले कौन हैं ?

उ० मुक्तिमार्ग को रोकनेवाले कषाय हैं।

प्र० कषाय का अर्थ क्या है ?

उ० 'कष' अर्थात् संसार और 'आय' अर्थात् लाभ अर्थात् जिस से संसार का लाभ-वृद्धि होती हो उस को कषाय कहते हैं। वे क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

प्र० यह आत्मा मोक्ष में कब जाता है?

उ० जब तक यह आत्मा कषाय और विषय को सेवन करता है तब तक संसार में ही है। और आत्मज्ञान होने से जब कषाय-विषय और कर्म से विमुक्त होता है तब ही मोक्ष में जाता है।

प्र० ज्ञान, दर्शन और चारित्र उदय में आये ऐसा कब गिनना

उ० आत्मप्राप्ति-आत्मज्ञान प्रगट होने से आत्मा में आत्मा को सम्यक् प्रकार जानते हैं और तब ही वह जीव को ज्ञान दर्शन और चारित्र उदय में आये ऐसा गिनते हैं।

प्र० आत्मा शरीरों को कहां तक धारण करता है?

उ० चिद् रूप स्वभाववाला यह आत्मा कर्म के प्रभाव से जब तक उस का अस्तित्व रहता है वहां तक शरीर को धारण करती है।

प्र० निरंजन अर्थात् क्या?

उ० आत्मा जब ध्यानरूप अग्नि से समस्त कर्मरूपी इन्धन को जलाता है तब शुद्ध होती है और निरंजन कहलाता है

प्र० मुक्ति का कोई ऐसा भी मार्ग है कि जो सर्व दर्शनों को सभ मतों को अनुकरण करनेवाला हो, और अध्यात्मविद्या व

प्राप्ति में भी हेतुभूत हो और जिसके कारण विना परिश्रम से ही शीघ्र आत्मज्ञान हो जाय ?

उ० हाँ, आत्मा शुद्ध बुद्ध होने पर भी भ्रम से जकडी हुई है और यह भ्रम दूर हो जाने पर मुक्तिको प्राप्त होता है वह मुक्ति का सरल मार्ग है ऐसा हर एक दर्शनवाले और योगीलोक भी मानते है। योगी भ्रम को–कर्म–मोह, अविद्या, कर्ता, माया, देव, अज्ञान इत्यादि शब्दों से पहिचानते हैं।

प्र० भ्रम अर्थात् क्या यह उदाहरण के साथ बतलाईए।

उ० अतद् वस्तु में तद्वस्तु का ग्रह स्वीकार करना यह भ्रम है स्त्री, पुत्र, मित्र, माता, पिता, द्रव्य, शरीर आदि अनात्मीय हैं। इस भव में नहीं जा सकते ऐसा होने पर भी आत्मीय वस्तु की तरह मानना यह भ्रम है।

प्र० मिथ्यात्व किस को कहते हैं ?

उ० संसार में और शरीरमें स्थित–वर्तमान सुंदर (मनोरम) वस्तु में प्रेम रखना और दुर्वस्तु में दुष्ट मनोवृत्ति रखना यह मिथ्यात्व है।

प्र० सम्यग्ज्ञान किस को कहते हैं ?

उ० मन में से रागद्वेष को निकाल के समभाव और वीतरागदशा का अनुभव करना यह सम्यग्ज्ञान है।

प्र० भ्रमसे किस तरह आत्मा कर्मपाशमें फसता है यह दृष्टान्त के साथ समझाओ।

४० बंदरों को (कपि) पकड़ ने के लिए चने से भरा हुआ पात्र (जिसका मुंह बहुत छोटा होता है) रक्खा जाता है। बंदर चने को खाने के लिए वहाँ आते हैं और हाथ डाल के, चनोंको लेनेका प्रयत्न करते हैं किन्तु पात्रका मुंह छोटा होने से तथा बंदर का हाथ चने से भरा हुआ होने से हाथ नहीं निकलता, तब बंदर सोचता है कि किसी ने मेरे हाथ को पकड़ लिया है और वह चिल्लाना शुरु करता है उस समय पकड़नेवाले उसे पकड़ लेते हैं। अगर बंदर सम-झ के भ्रमको छोड़ कर हाथ खाली कर के चला जाय तो बन्धन में नहीं आता।

शुक को पकड़ ने के लिए किसी पेड़ पर एक चक्र लगाया जाता है और चक्र की कणिका के ऊपर एक करेला रक्खा जाता है। वह करेला अपना भक्ष्य है ऐसा समझ के–भ्रम से वहाँ आकर के बैठता है। और बैठने के साथ वह चक्र घुमने लगता है। शुकको यद्यपि किसीने पकड़ा नहीं है मगर भ्रम से वह अपने को पकड़ा हुआ या किसी जाल में फँसा हुआ समझता है और चक्र के साथ घूमने लगता है। इतना ही नहीं किन्तु उस को अपना इष्ट समझके चि-पका रहता है और चिल्लाता है और उस की चिल्लाहट सुनकर के पकड़नेवाले पकड़ लेते हैं मगर शुक भ्रम–शंका रक्खे बिना उड़ जाता है और मुक्त हो जाता है और बन्धन में नहीं [illegible] । इ। [illegible] होता है [illegible]

प्र० निष्क्रिय सिद्धों में ज्ञान से और दर्शन से होनेवाली क्रिय
क्या सिद्धों को नहीं होती ?

उ० ज्ञान और दर्शन से होनेवाली क्रियाओं सिद्धत्व को
सिद्ध में नहीं होता। अगर प्रश्न किया जाय कि यह
समजना तो उस का प्रत्युत्तर यह है कि सिद्धत्व प्रा
सिद्ध जब उस संसार में मुक्तदशा में थे तब उन को कै
की प्राप्ति हुई थी अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन
गया था और तब ही ज्ञान और दर्शन से होनेवाली
यायें एकीसाथ में हो गई थी। देखने योग्य और
करने योग्य भूत-भविष्य और वर्तमान के सब भाव
हो चूके थे। उन को न तो नया देखने का था न ज्ञात
नेका। अर्थात् मुक्त जीव-भ्रम रहित जीव मनुष्यभ
सक्रिय होते हैं और सिद्धदशा में [illegible]

प्र० कर्म जो मर्यादित सुख को देनेवाले हैं वह कैसे अनन्त सुख को दे सकते हैं ?

उ० सिद्धात्माओं को सुख वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त नहीं हुआ मगर उसके क्षय को वह अनन्तसुख प्राप्त हुआ है इस लिए सिद्धात्माओं को कर्म सुख को देनेवाले नहीं हैं।

प्र० जितेन्द्रिय योगियों को किसी भी सांसारिक सुख की अभिलाषा होती है ?

उ० जितेन्द्रियों को ऐहिक सुख की कभी अभिलाषा नहीं होती क्योंकि जैसे पूर्ण पात्र में कुछ भी नहीं रह सकता वैसे सच्चिदानंदरूपी अमृत से परिपूर्ण ऐसे सिद्धात्माओं को तुच्छ सांसारिक सुखों की कभी अभिलाषा नहीं होती है।

प्र० सिद्धात्माओं को नित्य सुख कैसे रहता है ?

उ० जैसे प्राकृतजन को अद्‌भूत नृत्य दर्शन से अति सुख होता है वैसे सिद्धात्माओं को भी निश्चलरूप नाटक को देखने से नित्य सुख रहता है।

प्र० सिद्धात्माओं को कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय या शरीर का अभाव होता है तो वे कैसे सुखास्वाद करते हैं, दृष्टान्त से बतलाओ

उ० कोई दर्दी ज्वरपीड़ित हो और जब कभी वह सो जाता है तब अगर कोई उस को उठाने का प्रयत्न करता है तो समीपस्थ स्नेही कहता है—भाई उस को मत उठाओ। वह सुख में है। और भी कोई योगी कि जो आत्मज्ञानामृत में

क्यों कीयी ? देखो ! जगत् जन्म, मरण, व्याधि, कषाय, काम, क्रोध और दुर्गति के भव से व्याकुल है। परस्पर द्रोह और विपत्त से भरा हुआ है। व्याघ्र, हस्ति, सर्प, बिच्छु से परिपूर्ण है। पाराधि, मच्छिमार और व्याधसे त्रस्त है। चोरी, जारी से पीड़ित है। कस्तुरी, चामर, दांत और चर्म के वास्ते मृग, गौ, हस्ति और चित्ताओं का घातक है। दुर्जाति, दुर्योनि और दुष्ट कीटों से भरा है। विष्टा और दुर्गन्ध से भरे कलेवरों से अंकित है। दुष्कर्मों को निर्माण करनेवाले मैथुन से संचित है। सप्त धातु से निष्पन्न शरीरों से समाश्रित है। नास्तिकों के सहित और मुनीशों से निषिद्ध है। वर्णाश्रम के भिन्न भिन्न धर्म, षड्दर्शन के आचार–विचार सम्बन्धि आडंबर से युक्त है। नाना प्रकारकी आकृतिवाले देवताओं की उस में पूजा होती है। पुण्य और पाप को निष्पन्न कर्म भोग को देनेवाले है। श्रीमन्त और निर्धन, आर्य और अनार्य भेदों से व्याप्त है। अगर परब्रह्म बनानेवाला है तो ऐसा क्यों बनाया ? सब कुछ विपरीत ही नजर आता है। परब्रह्म के रूप को सर्वथा भिन्न है।

और भी अगर आगे बढो तो उसी बनानेवाले परब्रह्म को ...लनेवाले, उस का खंडन करनेवाले, उस को हसनेवाले भी ... जीव होते हैं और कितनेक उस को चाहनेवाले भी हैं। ...ह्म बनानेवाला हो तो ऐसी सृष्टि क्यों बनाई ?

...ी कार्य में उपादान कारण के गुण होने चाहिए वे आवे।

... वस्तु नजर आती है। अगर सृजन के

१० वाँ अधिकार.

ईश्वर निरूपण–इस जगत का कर्ता कोई नहीं है ।

प्र० परब्रह्मका क्या स्वरूप है ?

उ० परोपकारपरायण, वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और आप्त (यथास्थित वस्तुको जाननेवाले और कहनेवाले) यह परब्रह्म का स्वरूप कहा है ।

परब्रह्म उसी ही को कहते हैं कि जो निर्विकार, निष्क्रिय, निर्मोय, निर्मोह, निर्मत्सर, निर[illegible] निरपेक्ष, निर[illegible], ज्योतिर्मय, [illegible] हीन, प्रमा[illegible] जगत [illegible] जिस के [illegible] निवृत्ति ईश्वर [illegible]

प्र० [illegible] है ?

ब्रह्म में [illegible]

उ० [illegible]

क्यों कीयी ? देखो ! जगत् जन्म, मरण, व्याधि, कषाय, काम, क्रोध और दुर्गति के भव से व्याकुल है। परस्पर द्रोह और विपत्त से भरा हुआ है। व्याघ्र, हस्ति, सर्प, बिच्छु से परिपूर्ण है। पाराधि, मच्छिमार और व्याधसे त्रस्त है। चोरी, जारी से पीड़ित है। कस्तुरी, चामर, दांत और चर्म के वास्ते मृग, गौ, हस्ति और चित्ताओं का घातक है। दुर्जाति, दुर्योनि और दुष्ट कीटों से भरा है। विष्टा और दुर्गन्ध से भरे कलेवरों से अंकित है। दुष्कर्मों को निर्माण करनेवाले मैथुन से संचित है। सप्त धातु से निष्पन्न शरीरों से समाश्रित है। नास्तिकों के सहित और कुलीरों से नियित है। वर्णाश्रम के भिन्न भिन्न धर्म, षड्दर्शन के आचार-विचार सम्बन्धि आडंबर से युक्त है। नाना प्रकारकी आकृतिवाले देवताओं की उस में पूजा होती है। पुण्य और पाप को निष्पन्न कर्म भोग को देनेवाले है। श्रीमन्त और निर्धन, आर्य और अनार्य भेदों से व्याप्त है। अगर परब्रह्म बनानेवाला है तो ऐसा क्यों बनाया ? सब कुछ विपरीत ही नजर आता है। परब्रह्म के सरूप को सर्वथा भिन्न है।

और भी अगर आगे बढो तो उसी बनानेवाले परब्रह्म को वैर रखनेवाले, उस का खंडन करनेवाले, उस को हसनेवाले भी कितनेक जीव होते हैं और कितनेक उस को चाहनेवाले भी हैं। अगर परब्रह्म बनानेवाला हो तो ऐसी सृष्टि क्यों बनाई ?

और भी कार्य में उपादान कारण के गुण होने चाहिए वे भी नहीं नजर आते।

संसार में अनित्य वस्तु नजर आती है। अगर सृजन के

समय ब्रह्ममें से उत्पन्न हुई है तो योगी उस का त्याग क्यं करते हैं ? और जिस को योगी छोडते है उस को परब्रह्म क्यं ग्रहण करते हैं ? और ग्रहण करें तो वह विवेक कैसा ?

और भी सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होती न उस में लीन होती है। अगर ऐसा हो जाय तो ब्रह्म को 'वाताहान्वि' अर्थात् वमन किये को फिर भक्षण करने का दोष क्यों नहीं आवा ?

और भी जगत में अगर कोई ब्राह्मणादि को घात करता है तो महाहिंसा होती है एसा कहते हैं तो संपूर्ण सृष्टि के संहारक ब्रह्म को कैसी हिंसा होगी ? दयावान् निर्दय कैसा ? क्या पुत्र को पैदा कर, कर के घात करनेवाले पिता को हिंसा नहीं होगी ?

अगर कोइ ऐसा कहे कि जगत् तो ब्रह्म की लीला है इस लिए उस के संहार में दोष नहीं होता, तो यह कथन भी यथार्थ नहीं है। क्या शिकार करनेवाले नृपति को जीवहिंसा का पाप नहीं होता ?

इस लिए जो सृजन और संहार परब्रह्म में बतलाते हैं वे उस की महिमा नहीं बढाते मगर निष्कलंक में कलंक लगाते हैं। और ब्रह्म को निष्क्रिय कह कर सृजन और संहार में सक्रिय बतलाना वो "मे माता वन्ध्या" के तरह विरुद्ध है।

ज्ञानवन्त होते हैं वे ब्रह्मको उपासना करते हैं अगर वे ही ब्रह्मांश ही तो उपासना क्यों करना ? और उन में और ब्रह्म में क्या भेद ? अगर वे सब जीव ब्रह्मांश ही

हो ब्रह्म स्वयं उन को अपने पास ले जावेगा। अगर ब्रह्मप्राप्ति के लिए विरागता, निःस्पृहता, निर्दोषता, निष्क्रियता, जितेन्द्रियता करने योग्य हो और ब्रह्म की उसी में ही प्रीति हो तो ब्रह्म का निष्क्रियत्व सिद्ध होता है।

अगर ब्रह्मको निष्क्रिय और सक्रिय कहो तो उस में कर्तृत्व आवेगा और कर्ता के अनेक स्वभाव होने से कदाचित् उस में अनित्यता भी आजावेगी। और राग–द्वेष भी आ जावेंगे, सशरीरी भी होना पड़ेगा और ब्रह्म नित्य है ऐसी व्याप्ति भी नहीं होगी। क्यों कि नित्य वह ही है जो एकरूप है। दृष्टान्त आकाश का हमारे सामने ही है।

सृष्टि करने में और युगान्त में संहार करने में कर्ता को सक्रियता आती है और सृष्टि तथा संहार के अभावमें निष्क्रियता आती है। और जीव सुखी तथा दुःखी भी दिखते हैं इस से वह कर्ता राग–द्वेषी भी सिद्ध होता है। अगर यह तर्क किया जाय कि जैसा कृत्य वैसा सुखदुःख तो फिर कर्ता का क्या पराक्रम रहा ? इस लिए निश्चित होता है कि स्वकृत पुण्य पाप ही सुख–दुःख को देनेवाले हैं।

प्र० क्या जीव ब्रह्मांश हैं ?

उ० नहीं, जीव ब्रह्मांश नहीं है अगर वह ब्रह्मांश हो तो ब्रह्मांश समान होने से सभी समान हो जावेंगे। मगर ऐसा कुछ नजर नहीं आता। और भी अगर जीव ब्रह्मांश होगा तो ब्रह्म स्वयं ही उस को विना परिश्रम ही अपने पास ले जावेगा।

प्र० जीव सुखी–दुःखी अनेक प्रकार के नजर आते हैं तो उन भेदों को करनेवाला कोई अन्य या ब्रह्म होने चाहिए।

उ० अगर जीव ब्रह्म से भिन्न हो और सुख–दुःख का कर्ता ब्रह्म हो तो जिस हेतु से ब्रह्म सुख–दुःख करता है उस हेतुका कर्ता भी ब्रह्म ही होना चाहिए।

सारांश—संक्षेप में ब्रह्म को निरंजन, नित्य, अमूर्त और अक्रिय कथन कर के फिरसे उस को कर्ता–संहर्ता और रागद्वेषादिका पात्र कहना यह परस्पर विरुद्ध है। इसी से मुनियोंने सोचा कि जगत् भिन्न है और ब्रह्म भी भिन्न है और इसी लिए संसारस्थित मुनि मुक्ति के लिए परब्रह्म का ध्यान करते हैं।

प्र० ईश्वर की (विष्णुकी) माया जगत् रचना में हेतुभूत है या नहीं ?

उ० नहीं, वैसा हो नहीं सकता। अगर ऐसा कहोगे तो क्या ईश्वर माया के आश्रित है या माया ईश्वर के आश्रित है? और माया स्वयं जड होने से आश्रय नहीं ले सकती तथा ईश्वर परब्रह्म स्वरूप होने से माया का आश्रय नहि लेता।

प्र० ईश्वर उस के सेवकको सुखी करता है और जो सेवक नहीं है उन को दुःखी करता है यह बात क्या सत्य है?

उ० ना[illegible] सत्य है अगर ईश्वर ऐसा करेगा तो वह स्वयं [illegible] हो जावेगा। और जो उस की सेवा भी और निंदा भी नहीं करता उस की क्या गति

होगी। लोक में जीव तीन तरह के होते हैं—सेवक, अ-सेवक और मध्यस्थ। जब प्रथम के दो प्रकार के जीवों की गति होती है तब मध्यस्थ जीव की भी कोई गति होनी चाहिए। और अगर मध्यस्थ की कोई नियत गति होती है तो उस गति को करनेवाला कौन है ? इस लिए यही कहना योग्य है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा सुख-दुःख पाता है।

ईश्वर खुद में से ही जीवों को प्रगट कर के (सृजन कर के) संसारीभाव को देता है और महाप्रलय के समय फिर खुद उस का संहार करता है। क्या यह कहना सत्य है ?

नहीं, यह बिलकुल असंभवित है। क्यों कि अगर ऐसा माना जायेगा तो सवाल यह पैदा होता है कि—

क्या ईश्वरने जीवों को कोई इष्ट स्थान में छिपा रक्खे थे जैसे हम स्टोर में किसी चीज को रक्खते हैं वैसे रक्खे थे या जीवों का नवीन सृजन होता है और फिर प्रगट करता है। प्रथम में अगर छिपे हुए प्रगट करता है तो उस को किस का डर था जो छिपाना है ?

अगर उस की अचिन्त्य शक्ति कहो तो वह लोभी कहलाएगा अगर नयी रचना करता है तो क्या पुराने जीवों को स्वतंत्र करने में असमर्थ है जिससे उन को बंधन में रख के विडंबना देता है ? और स्वधीन को नाश करने-

वाला वह ईश्वर कैसा अविवेकी कहा जायेगा ? वाउड
भी स्वकृत वस्तु को अपनी ताकत से अन्तिम समय तक
रक्षा करता है।

प्र० क्या यह जगत् ईश्वर की लीला है ?

उ० नहीं, ईश्वर जगत् की लीला में नहीं पड़ता, और वह
ईश्वर के साथ शोभा को भी नहीं देता। जिस को तप-ज
और ध्यान पसंद आता है वह ईश्वर ऐसे पचड़े में क्या
गिरेगा ? जिस में जीवों की हत्या होवी हो वैसी लीला
क्या वह पसंद करेगा ? दूसरों को निषेध करें और खुद
प्रवृत्ति करें यह कभी हो सकता नहीं। और भला ! ऐसे
काम करनेवाला कभी ईश्वर भी हो सकता है ? और जो
ईश्वर ज्योतिर्मय है वह कैसे अपने रम्य अंशों को विशेष
लगा के संसार में परिभ्रमण करावेगा ? संसारीभाव को
प्राप्त हो कर जो जीवत्व को दुःख के तर्फ धकेलता है वह
कैसे ईश्वरांश कहाएगा। अगर यह सब ईश्वर की लीला है तो
मानना ही चाहिए कि उस को दुःखमय संसार ही इष्ट है
और जब ऐसा है तो संसारी जीवों को उस की प्राप्ति वास्ते
व्यर्थ क्यों प्रयत्न करना ?

तात्पर्य—कहने की मतलब यह है कि जो ईश्वर है वह
चिन्मय और सदा एकरूप है, तथा वह ईश्वर प्रत्येक योगीश्व
रों को भी उपास्य है। जीव अपने विविध प्रकार के
या दुर्गति को—सुख को या दुःख को पाता

तब समभाव को धारण करता है तव ब्रह्मत्व को पाता है। इस लिए ईश्वर को जगतकर्ता कहना छोड के उस की स्तुति–सेवा करना ही योग्य और उचित है। जैसे कोई वीर अपने मालिक के आयुधों से शत्रुओं को पराजित कर के निज अंग को सुख पहुंचाने से कर्त्ता होता है वैसे ही ईश्वर का ध्यान करनेवाला ईश्वर के ध्यान से आत्मा को सुख पहुंचाने से कर्त्ता है और आत्मा-के अंधकार के अपहरण से संहर्ता कहलाता है। जैसे शुरवीर स्वामी के आयुधों से लडता है मगर स्वामी को कुछ भी क्रिया नहीं करने की होती वैसे ही भक्त ईश्वर–ध्यान से अपने इष्ट के रास्ते मथता है मगर ईश्वर को कुछ भी करने का नहीं; और इसी से ईश्वर की निष्क्रियता सिद्ध होती है। और शुरवीर स्वा-मी के आयुधों से जय पाता है तब जय का कारण स्वामी को मानता है वैसे ईश्वर के ध्यान से जब जीव मुक्ति पाता है तब उस का कारण ईश्वर को ही समजता है और उसी में सुख आ-दि को [illegible] है।





११ वाँ अधिकार.

ब्रह्मस्वरूप वर्णन.

प्र० ब्रह्म क्या है ?

उ० ब्रह्म वही है जिस को हम सिद्धपुरुष कहते हैं। जो शुद्ध और निर्मल चित्तवाले योगी हैं उन को ध्यान करने योग्य वह ब्रह्म है। और जिस को-मुमुक्षु-मुक्त होने की इच्छा रखनेवाले इस दुस्तर पारावार में तैरने के वास्ते नौका समान मानते हैं।

प्र० अगर यह सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न नहीं है तो कहाँ से उत्पन्न हुई और कहाँ कैसे प्रलय को पायेगी ?

उ० जवाब संक्षेप में ही है। त्रिकालवेत्ता वीतरागप्रभुने फरमाया है कि काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम (वीर्य) से यह समवाय पंचक से (पाँचों के मिलन से) सृष्टि की उत्पत्ति और लय होता है।

प्र० ब्रह्म में ब्रह्म कैसे [illegible] है और कैसे मिलती [illegible]।

उ० तत्वविद्लोग ज्ञान को ब्रह्म अथवा ज्योति कहते हैं। एक सिद्ध का ब्रह्म (ज्ञान अथवा ज्योति) अनन्त दिशाओं में अनन्त क्षेत्रों को आश्रय कर के रहता है और उसी क्षेत्रो में दूसरे का–तीसरे का यावत् अनन्त सिद्धों का ब्रह्म रहा हुआ है। और इसी से ही कहा जाता है कि ब्रह्म में ब्रह्म लीन होता है, ज्योति में ज्योति लीन होती है।

प्र० अगर अमुक निश्चित क्षेत्रो में ही ब्रह्म के साथ अन्य ब्रह्मों की भी लीनता हो जायेगी तो क्षेत्र छोटा होगा और परस्पर मीलित ब्रह्मों को भी क्षेत्रसंकीर्णता होगी।

उ० ऐसा नहीं हो सकता। एक विद्वान अपने हृदय में अनेक शास्त्रों को धारण करता है मगर कभी हृदय की संकीर्णता नहीं होती। और अक्षरों को परपीडा भी नहीं पहुँचती। इस तरह ब्रह्म परंपरा आश्रित ब्रह्म से (चित्) सर्वत्र व्याप्त क्षेत्र कभी संकीर्ण नहीं होता। और ब्रह्म को भी संकीर्णता अथवा परस्पर का सांकर्य नहीं होता। और इसी तरह सिद्धों से परिपूरित सिद्धक्षेत्र कभी संकीर्ण नहीं होता। और सिद्ध परंपराश्रित सिद्ध सांकर्य–बाधा से रहित अनन्त और अगाध ज्ञानसुख में मस्त रहते हैं।

गंधग्रह इत्यादि गुणों से युक्त जो होता है वह सिद्ध कहलाते है।

मुमुक्षु किस के गुणों का आश्रय लेता है ?

मुमुक्षु सिद्ध के गुणों का आश्रय लेता है और यथा-शक्ति उस का पालन कर के क्रम से सिद्ध होता है।

मुमुक्षु अल्प गुण में से महागुण को कैसे प्राप्त होता है ?

मुमुक्षु—साधुवर्ग देह पर ममत्व नहीं रक्खते। वे उत्तरोत्तर इसी उच्च भावना से जब सिद्ध होते हैं तब उन गुणों की उत्क्रान्ति से वे सिद्धावस्था में अमूर्त होते हैं। और भी साधु क्वचित क्वचित् आहार का भी त्याग करते हैं। वे जब सिद्धावस्था में आते हैं तब निराहारी होते हैं।

सिद्ध द्वेष से रहित हैं। साधु सर्व जीवों पर रूचि के साथ मैत्री धारण करता है। सिद्ध वीतराग हैं—साधु बन्धुओं के बन्धन से रहित होता है। सिद्ध निरंजन हैं—साधु प्रीति विलेपनादि से रहित होता है। सिद्ध निष्क्रिय होते हैं—साधु आरंभ-समारंभ की प्राप्ति से दूर रहते हैं। सिद्ध निःस्पृह होते हैं—साधु किसी प्रकार की आशा नहीं रक्खता। सिद्ध असपर्यक होते हैं—साधु विवाद नहीं करते। सिद्ध निर्बन्ध हैं—साधु स्वेच्छा विहारी होते हैं। सिद्ध निर्सान्य हैं—साधु परस्पर की मित्रता से [illegible] रहता [illegible] सिद्ध केवलदर्शी होते [illegible]

निरता देखते रहते हैं। सिद्ध आनंद में भरे होते हैं– साधु अन्तःकरण शुद्ध रखते हैं। संतोष और समभाव से रहते हैं। इस तरह सिद्धों के जो गुण होते हैं और जिन का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है उन गुणों को मुमुक्षु समझ के यथाशक्ति पालने को कटिबद्ध होता है और क्रम से से वह सिद्ध होता है। और भी गृहस्थ जो दुःखकी शान्ति के लिए अपनी शक्ति के अनुसार देश से भी (अंशतः, सर्वथा नहीं) अनुसरता है वह भी अनुक्रम से सुखी होता है।

इस से निश्चित होता है कि मुमुक्षु अल्प गुण में से सिद्ध के परिणाम से महागुण को प्राप्त होता है।

प्र० गृहस्थ धर्म के लिए क्या आवश्यक है ?

उ० गृहस्थों के लिए–श्रावकों के वास्ते निरंतर साकार देवपूजा, साधुओं की सेवा और दानादि धर्म आवश्यक हैं। गृहस्थ प्रायः हमेशां सावद्य (पापमय) व्यापार में रक्त, सर्वकाल ऐहिक अर्थप्राप्ति में आसक्त और कुटुम्ब–पोषण के वास्ते हमेशां उच्च–नीच वार्ता में (आजीविका) आदरयुक्त होते हैं इसी से स्वचित्त की शुद्धि के लिये उन को अवश्य तत्त्वत्रयी का (देव–गुरु–धर्म) सेवन करना आवश्यक है।

प्र० कौन आदमी निन्दा को प्राप्त नहीं होता ?

उ० जो निश्चय पर दृष्टि र...

है वह कभी निंदापात्र नहीं होता, और वही भवसमुद्र के पार को पाता है। 'गुजराती' में कहा भी है—

" निश्चय दृष्टि चित्त धरीजी पाले जे व्यवहार,
पुण्यवन्त ते पामशेजी, भवसमुद्रनो पार."

प्र० निश्चय दृष्टिवाले कुलीन मनुष्य को कहाँ तक स्व–व्यवहार की रक्षा करनी ?

उ० जहाँ तक सिद्ध परमात्मा का निरावलंबन ध्यान करने के लिए मन समर्थ न हो वहां तक, और जब तक सुसाधु और कुसाधु का निश्चय करने में समर्थ, ज्ञानोदय न हो वहां तक, निश्चय दृष्टिवाहक कुलीन पुरुष को स्व–व्यवहार की रक्षा करनी चाहिए।

प्र० निर्वाणधाम की मंगलमयी द्वारभूमि को प्राप्त करने के लिए क्या करना आवश्यक है ?

उ० द्रव्य और भाव, ये दोनों प्रकार के धर्म का पालन करना यह मंगलमयी भूमि को प्राप्त करने के लिए उत्तम वाहन के समान है।

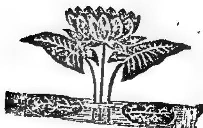
प्र० कौनसा परम धर्म है ? और वह क्या प्राप्त करवाता है ?

उ० आत्मज्ञान यही परम धर्म है और वही महात्माओं को ...म में (मोक्षमंदिर में) पहुंचानेवाला है। कहने

का तात्पर्य यह है कि उस की साधना से मोक्ष निश्चि
से होता है ।

प्र० आत्मज्ञान से क्या प्राप्त होता है ?

उ० आत्मज्ञान से अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तद
अनन्तवीर्य और अनन्तसुख) प्राप्त होता है,
इन से ज्ञानादि शुद्धि अनन्त होती है और उसी की
धना से निवृत्ति–मोक्ष होता है । इत्यलम् ।





१३ वाँ अधिकार.

परोक्ष और प्रत्यक्ष ये दोनों प्रमाण स्वीकारने के योग्य हैं।

प्र० कितनेक कहते हैं कि–पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, स्वर्ग नहीं है, नरक नहीं है, मोक्ष नहीं है, पुनर्जन्म भी नहीं है और मन से कुछ भी नहीं ग्रहण कर सकते और जिस में पांचो इन्द्रियों के विषय होते हैं ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड के अन्य किसी प्रमाणों को नहीं मानने चाहिए। क्या यह युक्तिसंगत है ?

उ० जो वस्तु दृश्य हो वही सत् और अन्य असत् ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। जिस में पांचों इन्द्रियों का विषय हो ऐसी वस्तु कौन है उस को प्रथम विचारना चाहिए। अगर रामादि में (स्त्री आदि में) पांचों इन्द्रियों का विषय है तो सोचना चाहिए कि रात्रि में शब्द–रूप से समान किन्तु पूर्वकथित जो रामादि वस्तु नहीं है उस में क्या रामादि वस्तु का ... नहीं होता ? अगर यह कहा जाय कि रात्रि में सर्व

अर्थात्--अहिंसा वह परम धर्म है, अहिंसा परम दान है, अहिंसा वह परम दम है, अहिंसा वह परम तप है। हे कुरुश्रेष्ठ ! ये सब फल अहिंसा के हैं। अनन्तवर्षों तक अहिंसा के गुण कहते चलो मगर पार नहीं पा सकते।

हिंसामें धर्म नहीं होता है—

Merits which accrue from non-injury can neve accrue from injury. Lotuses which grow only i water can never have fire as their source 17

अहिंसासे उत्पन्न होनेवाला धर्म हिंसासे पैदा नहीं हो सकता जलमें उत्पन्न होनेवाले सरोज आगसे कैसे पैदा हो सकते ?। १७

हिंसा का निषेध—

all the creatures from Indra down to a worm like a happiness and Dislike pain.

Taking this into consideration a wise Perso Should ever refrain from doing harm (10).

एक छोटेसे कीट से लेकर समर्थ ईन्द्रतक सभी जीवों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। ऐसा समज कर बुद्धिमानों को कहीं भी हिंसा का आचरण नहीं करना चाहिए। १०।

अध्यात्मतत्त्वालोकः ॥

अहिंसा परमो धर्मः ।

जैनधर्म का यह भी सर्वमान्य और सर्वोत्तम सिद्धान्त है। वह मुद्रालेख भी कहा जा सकता है। जिस के यथानुरुप पालनसे जीवात्मा अन्तमें अपना साक्षात्कार करता है। विश्वमें मुख्य दो पदार्थ है, जड और चेतन। संसारी जीवों की स्थिति मिट्टीसे मिश्रित सुवर्णके बरोबर है। सुवर्णमें मिट्टी अनादि समय से लगी है उसी तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है। सुवर्ण जब आग में तप्त होता है तब शुद्ध और स्वच्छ होता है वैसे ही आत्मा जब सर्वथा कर्ममलसे मुक्त होता है तब ही वह परमात्मा कहलाता है। और मुक्तगामी होता है। कर्म के उच्छेदमें अहिंसा वह अमोघ और अमूल्य शस्त्र है। पांच व्रत जो दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहत्व नाम से प्रसिद्ध है और जिस का स्वीकार उपनिषदोंने भी किया है वे सभी अहिंसामें अन्तर्भावित है। और इसी लिए अहिंसा वह परम धर्म है।

अहिंसा के दो भेद हो सकते हैं—(१) स्वदया (२) परदया। स्वदया अर्थात् अपना आत्मा कोई भी अशुभ चिंतन, आचरण और कार्य से लिपट न जाय ऐसा वर्त्तन वह स्वदया कही जा सकती है। संक्षेपमें स्वदया अर्थात् आत्मरक्षा करना यह है। परदया अर्थात् परजीवों की रक्षा करना। उनके प्राणों को दुःखी न करना अथवा उनको प्राण से विमुक्त न करना। वास्तविकमें परदया स्वदयामें अन्तर्भावित होती है। क्यों कि अन्य जीवों की रक्षा वह भी अपनी आत्मा के सुख के वास्ते है।

एक समय प्रेसिडेन्ट हुवर कोई सभामें जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने सुवर के बचे को कीचडमें फंसा हुआ देखा। और वह विचारा मरने की तय्यारीमें था। यह देख कर प्रेसिडेन्ट हुवरने कीचडमें जाकर उस विचारे को बचाया। मगर उन के सब कपडे कीचड से गन्दे हो गये तथापि वे उस की परवा न करते सभा को चले गए। परन्तु उनके ऐसे गन्दे कपडे देख कर सभी सभाजन चकित हुए और कारण पूछा। उन्होंने सर्व घटना कही। तब सभाजन कहने लगे कि आपने उस विचारे पर दया कर के उसकी जान बचाई। तब प्रेसिडेन्ट महाशयने जो उत्तर दिया वह स्मरणमें रखने लायक है। उन्होंने कहा कि मैंने यह जीव पर दया नहीं की मगर उसको देख कर मेरी आत्मा दुःखी हुई और मैंने अपनी आत्मा के सुख के वास्ते यह कार्य किया, न कि उस जीव परकी दयासे। इस तरह स्वदयामें परदया आजाती है। मगर अकेली परदया वह कर्मबन्ध का कारण होती है। इस लिए उस को अवश्य त्यागनी चाहिए। अकेली परदया यानि जो कोई दया का कार्य कीर्त्ति और मान या ऐहिक लालसा की तृप्ति के वास्ते करना वह है। इससे पुण्य होता है यह सत्य है मगर जैसे पाप को लोहशृंखला के स्वरूप माना है वैसे ही पुण्यको सुवर्ण शृंखला के समान कहा है। इस लिए दया के प्रत्येक कार्य आसक्ति छोड कर करना चाहिए। फलकी आशा भी नहीं करना चाहिए। उपार्जित पुण्य का भी क्षय करना होता है। और उस के क्षय के वास्ते जन्मान्तर भी करने पडते हैं,

और इसीमें संसार की वृद्धि होती है। इसी लिए फल की इच्छासे कभी सत्कार्य नहीं करना चाहिए। और मैं यह कहता हूं, मैंने यह किया ऐसा मिथ्याभिमान भी सत्कार्य में करना न चाहिए। इस से कर्मबंध होता है। निश्चयनय की दृष्टिसे देखेंगे तो कोई किसी को कुछ देता नहीं और कोई किसीसे कुछ लेता नहीं। इस की स्पष्ट समज श्रीमद् महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराज विरचित १२५ गाथावाले स्तवन की ४१ वीं गाथा में दी है। उक्त गाथा उस स्तवन से ले कर अर्थके साथ पाठकों के विज्ञानार्थ हम यहां देते हैं। निश्चय नय की दृष्टि से दया का वास्तविक स्वरूप क्या है वह इस गाथा से समज में आता है।

दान हरणादिक अवसरें, शुभ अशुभ संकल्पे।
दिए हरे तुं निज रूपने, मुखे अन्यथा जल्पे॥

कोई प्रतिपक्षी यहाँ शंका उठाता है कि–अगर यह जीव, अन्य जीव को, निश्चय नय की दृष्टिसे जब दानहरणादिक नहीं करता तो जीव को कर्मबंध कैसे होगा? उस शंका के निराकरण में विद्वान् उपाध्यायजी महाराज उक्त गाथा को सन्मुख रखते हैं। गाथा का भावार्थ यह है कि–हे चेतन! तूं पौद्गलिक पदार्थों का दान हरणादिक नहीं करता है। मगर जिस समय तूं दान देता है तब शुभ संकल्प से अपने स्वरूप को दान देता है। आत्मभाव को दानरूप से परिणत कर के शुभकर्म का उपार्जन करता है। और जिस समय

हरणादिक करता है तब अशुभ संकल्प से निजरूप का हरण करता है। आत्मभाव को ही अशुभ संकल्प से हरण रूप में परिणित कर के अशुभकर्म उपार्जन करता है। हे आत्मा! इस तरह तूं निजरुप का ही दानहरण करता है। शुभ अशुभ संकल्प से आत्मभाव को दानहरणादि रूप से परिणित कर के कर्म बांधता है। पौद्गलिक पदार्थ तेरे से भिन्न होने पर मुख से अन्यथा कहते हैं। वे कहते हैं कि–मैंने धनादि का दान दिया, मैंने धन वगैरह की चोरी की। मगर जो तेरा नहीं है उस को तूँ कैसे ले–दे सकता है ? इस पर से सार यह लेने का है कि वाह वाह, कीर्त्ति या लालसा के खातर दया या परमार्थ के कार्य नहीं करते हुए केवल आत्महित के वास्ते और आसक्ति छोड कर करना चाहिए। गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि––" कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन " हे अर्जुन ! तूँ जो कोई कार्य कर वह आसक्ति को छोड के कर–फलेच्छा को छोड दे। सर्व कार्य निष्काम बुद्धि से और अहंभाव छोड कर करना चाहिए यही कहने का फलितार्थ है और उसी से ही सच्ची स्वदया होती है। जो महात्मा लोग आत्मा को केवल ज्ञायक स्वभाव से ग्रहण करते हैं वेही विश्व में परमसुख को पाते हैं। "यह कार्य का कर्त्ता मैं हूं " "यह कार्य मैंने किया" ऐसा अहम् पद जब किसी पारमार्थिक कार्य के साथ लगता है तब कर्मबन्ध होता है। इस लिए मैं प्रत्येक कार्य अपनी आत्मा के उत्कर्ष के वास्ते करता हूँ ऐसी उच्च भावना हरएक आत्मार्थी को करनी चाहिए जिस से